हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग ग्रन्थांक : 60

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (चतुःसूत्री)

व्याख्या तथा अनुवाद

लेखक

डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी

भू० पू० अध्यक्ष, दर्शन विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ-226001

प्रकाशक :
विश्वनाथ शर्मा
निदेशक,
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रन्थ-योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1975
द्वितीय संस्करण : 1979
प्रतियाँ : 1100

मूल्य : 4.00

मुद्रक :
श्री माहेश्वरी प्रेस
गोलघर, वाराणसी-221001

स्वर्गीय पिता जी

को

सादर समर्पित

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1964-66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा-सम्बन्धी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी, 1968 को संसद् के दोनों सदनों द्वारा इस सम्बन्ध में एक संकल्प पारित किया गया। उस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालयस्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार की शत-प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय-स्तर की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गयी।

प्रामाणिक ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालयस्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों को हिन्दी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रन्थों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत वे पाण्डुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अभिकरणों द्वारा तैयार की गयी थीं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अन्तर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित करायी गयी है। इसके लेखक डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी हैं; जिन्होंने इस विषय को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने में अत्यधिक श्रम किया है। एतदर्थ इस बहुमूल्य सहयोग के लिए उ० प्र० हिन्दी संस्थान उनके प्रति आभारी है।

मुझे आशा है, यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जायगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिन्दी में मानक ग्रन्थों के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है, इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिन्दी में परिवर्तित हो सकेगा।

अशोक जी
कार्यकारी उपाध्यक्ष
उ० प्र० हिन्दी-संस्थान

प्राक्कथन

भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रायः सभी जगह एम. ए. के पाठ्यक्रम में अद्वैत वेदान्त को स्थान प्राप्त है और अद्वैत वेदान्त के पाठ्यक्रम में ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री शाङ्करभाष्य अवश्य रखा जाता है। हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन हिन्दी में होता है। अद्वैत वेदान्त पर अँग्रेजी में तो कुछ पुस्तकें उपलब्ध हैं किन्तु हिन्दी में पुस्तकों का अभाव अभी भी है। ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री शाङ्करभाष्य के कुछ अनुवाद हिन्दी में भी देखने को मिलते हैं परन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि वे छात्रों के लिए अधिक उपयोगी नहीं हैं। उनको पढ़कर छात्र शङ्कराचार्य के तात्पर्य को समझने में सफल नहीं होते। यह पुस्तक छात्रों के आग्रह से लिखी जा रही है। अतः इसे अधिक से अधिक छात्रोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

इस पुस्तक की दो एक विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि अनुवाद को बिलकुल अक्षरशः अनुवाद न बनाकर उसे भावार्थक अनुवाद बनाया गया है जिससे वह छात्रों को सुगम हो। फिर भी कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य हो गया है। यथास्थल उन शब्दों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को स्पष्ट किया गया है। दूसरी विशेषता यह है कि अनुवाद के साथ-साथ एक संक्षिप्त व्याख्या भी दी गयी है। इस व्याख्या में प्रायः उन सभी महत्त्व के प्रश्नों को उठाया गया है जो भाष्य में प्रसंगतः उठते हैं और यथासम्भव शंकाओं का निवारण किया गया है। तर्क पाद का भी कुछ अंश व्याख्या में ले लिया गया है। व्याख्या को प्रायः बोलचाल की भाषा में रखा गया है न कि शास्त्रीय भाषा में। लेखक का उद्देश्य न तो विद्वत्ता-प्रदर्शन है और न कोई मौलिक सिद्धान्त रखने की इच्छा है। यदि कहीं मौलिकता मिली भी तो वह विषय के प्रतिपादन में ही हो सकती है, किसी सिद्धान्त में नहीं। लेखक आचार्य के तात्पर्य को सुगम बनाने में सफल है कि नहीं वह तो पाठक ही बता सकेंगे।

इस छोटे से ग्रंथ में वेदान्त-सम्बन्धी सभी विषयों का समावेश सम्भव नहीं था, फिर भी उपयोगिता को ध्यान में रख कर परिशिष्ट में मायावाद का खण्डन और उसका उत्तर दे दिया गया है।

भाष्य के अनुवाद तथा व्याख्या में हिन्दी में उपलब्ध अनुवादों से सहायता मिली है। उन सभी लेखकों के प्रति आभार-प्रदर्शन मेरा कर्त्तव्य है। परन्तु अद्वैत वेदान्त को मुझे सुगम बनाने का एकमात्र श्रेय मेरे गुरु प्रो. टी. आर. वी. मूर्ति को है। उन्हीं जैसे सामर्थ्यवान् व्यक्ति के लिए मेरे जैसे साधारण व्यक्ति को अद्वैत समझाना सम्भव था। ग्रहण करने में सफलता की कमी केवल मेरी सामर्थ्यहीनता के कारण है। उनको धन्यवाद देने मात्र से मैं उऋण नहीं हो सकता। पुस्तक को मूर्तरूप देने में जो सहायता मेरे सहयोगी श्री बाबू लाल मिश्र जी से मिली है, उसके लिए मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। बिना उनके परिश्रम के मेरे जैसे आलसी व्यक्ति को यह काम पूरा करना कदापि सम्भव नहीं था। प्रूफ-संशोधन में श्री कमलाकर मिश्र तथा श्री केदारनाथ मिश्र से सहायता मिली है। वे दोनों धन्यवाद के पात्र हैं। अंत में मैं हिन्दी ग्रन्थ अकादमी (उ. प्र.) को भी धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ क्योंकि पुस्तक का शीघ्र प्रकाशन अकादमी के उत्साही निदेशक तथा अध्यक्ष के प्रयत्नों का फल है।

रमाकान्त त्रिपाठी

द्वितीय संस्करण

यह मेरे लिए परम हर्ष और सन्तोष का विषय है कि चतुःसूत्री के इस अनुवाद और व्याख्या को दर्शन तथा वेदान्त में अभिरुचि रखने वाले पाठकों ने पसन्द किया और फलतः पुस्तक के द्वितीय संस्करण की आवश्यकता मालूम पड़ी। मुझे यह दुःख है कि इस संस्करण में कुछ और जोड़ने का समय नहीं मिला। इसमें केवल कुछ अशुद्धियों को दूर करने का प्रयास किया गया है। कई विद्यार्थी तथा अध्यापक मित्रों ने मुझसे आग्रह किया कि इस संस्करण में तर्कपाद (ब्रह्मसूत्र) की भी व्याख्या जोड़ दी जाय। ऐसा करने से अवश्य ही पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती। परन्तु समयाभाव के कारण मैं ऐसा नहीं कर पाया हूँ। पुस्तक जैसी थी वैसे ही पुनः प्रस्तुत है। हो सकता है कि इस संस्करण में कुछ अशुद्धियाँ दूर हुई हैं तो उनकी जगह कुछ दूसरी अशुद्धियाँ प्रूफरीडिंग के दोष के कारण आ गयी हों। आशा करता हूँ कि पाठक औदार्य दिखायेंगे।

अन्त में मैं उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान को पुस्तक के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के लिए धन्यवाद देता हूँ। इस संस्करण के शीघ्र प्रकाशन में सहयोग के लिए माहेश्वरी प्रेस धन्यवाद का पात्र है।

—रमाकान्त त्रिपाठी

विषय-सूची

श्रीकृष्णः शरणं मम

ब्रह्मसूत्र भाष्य (उपोद्घात)

श्री शङ्कराचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने के पहले भूमिका के रूप अध्यासभाष्य लिखा है। उस अध्यासभाष्य पर विचार करने के पहले कुछ प्रश्न उठते हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता हैं कि शङ्कराचार्य ने अध्यासभाष्य से सूत्रभाष्य प्रारंभ क्यों किया। ऐसा किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया है। इस प्रश्न पर विचार करने से कई एक तथ्यों पर प्रकाश पड़ेगा। सर्वप्रथम तो दार्शनिक दृष्टि से अध्यास पर विचार करना और प्रारंभ में ही विचार करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक दर्शन का उद्देश्य अविद्या या अज्ञान का नाश होता है। अतः सर्वप्रथम हमारा यह कर्तव्य है कि हम सिद्ध करें कि अविद्या है और यह भी विचार करें कि अविद्या का स्वरूप क्या है। संभवतः इन्हीं प्रश्नों को दृष्टि में रखकर शङ्कराचार्य ने सर्वप्रथम यह सिद्ध किया है कि अध्यास है और वह अध्यास अविद्या के कारण ही हो सकता है। दूसरी बात जो शङ्कराचार्य अध्यास भाष्य में दिखाना चाहते हैं वह यह है कि अविद्या नैसर्गिक है और सभी अनर्थों का कारण है अर्थात् बिना अविद्या नाश किये तज्जन्य अनर्थों से मुक्ति नहीं मिल सकती।

अध्यास पर विचार करने का एक और भी दार्शनिक कारण मालूम पड़ता है। वह यह है कि उससे हमको सत्यासत्य के स्वरूप के विषय में भी संकेत मिलता है, क्योंकि इसी प्रसंग में शङ्कराचार्य का यह कहना है अध्यास में अध्यस्त और अध्यासवान दो तत्त्व होते हैं। वे दोनों न तो सत्य हो सकते हैं और न दोनों असत् हो सकते हैं क्योंकि इन दोनों ही स्थितियों में बाध नहीं हो सकता। अध्यास का बाध होता है। अतः अध्यस्त को मिथ्या मानना आवश्यक है जो सत् और असत् दोनों से भिन्न होता है। इस प्रकार मिथ्यात्व के स्वरूप का ज्ञान होने पर (मिथ्या वह है जिसका बाध होता है) सत्य के स्वरूप की ओर भी संकेत मिलता है क्योंकि तब हम यह कह सकते हैं कि सत् वह है जिसका बाध नहीं होता है (त्रिकालाबाधित सत्)।

दर्शन की विधि की दृष्टि से भी अध्यास भाष्य में एक महत्व की बात मिलती है। अध्यासभाष्य में शङ्कराचार्य हमारे अनुभव और व्यवहार का विश्लेषण करते

हैं और उसी विश्लेषण से सत्यासत्य के स्वरूप पर पहुँचते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि दर्शन को अनुभव का आधार लेकर चलना चाहिये और अनुभव का विश्लेषण करके सत्यासत्य का विचार करना चाहिये। दर्शन की यह अवधारणा पाश्चात्य दर्शन में प्राप्त दो अवधारणाओं से सर्वथा भिन्न है; वहाँ पर एक तो अनुभववाद है जो हमारे साधारण अनुभव को सर्वथा सत्य मानकर उसकी छानबीन करता है और दूसरा बुद्धिवाद है जो अनुभव से कोई संबंध न रखते हुए बुद्धि के सहारे तत्त्वातत्व पर विचार करता है। ये दोनों विधियाँ अपूर्ण ही नहीं वरन् दोषपूर्ण भी है। यदि हमारा साधारण अनुभव सत्य है तो दर्शन की आवश्यकता ही क्या ? अतः अनुभववादी दर्शन के वास्तविक अर्थ को नहीं समझते और बुद्धिवादी यह नहीं समझते कि तत्त्व को यदि हम अनुभव के किसी स्तर पर नहीं प्राप्त करेंगे तो केवल प्रत्ययों द्वारा प्राप्त तत्त्व कोरी कल्पना मात्र होगा। अतः शङ्कराचार्य अनुभव का विश्लेषण तो करते हैं किन्तु अनुभव को सर्वथा सत्य न मानकर उसमें क्या सत्य है और क्या असत्य है इस प्रकार का प्रश्न उठाते हैं। इस अनुभव में भी जो सबसे महत्त्व का अध्यास है और जिसके आधार पर हमारे जीवन का सुख दुःख निर्भर करता है वह है अहं विषयक अध्यास। इसलिये शङ्कराचार्य किसी अन्य विषयक अध्यास को न लेकर अहं विषयक अध्यास से प्रारंभ करते हैं। क्योंकि उनको यहीं दिखाना है कि अहं विषयक अध्यास ही सर्व अनर्थों का मूल है। अहं का विश्लेषण ही प्रधान दार्शनिक प्रश्न है और सब प्रश्न प्रासंगिक हैं।

श्री शङ्कराचार्य अध्यास की सिद्धि के लिये युष्मद् और अस्मद् प्रत्यय अर्थात् मैं और तुम को विषयी और विषय के रूप में लेकर कहते हैं कि ये दोनों तमः प्रकाशवत् विरुद्ध स्वभाव के हैं तब भी हम एक पर दूसरे का आरोप करते हैं यह सिद्ध है। ऊपर बताया जा चुका है कि युष्मद् और अस्मद् के अध्यास को वे इसलिये लेते हैं कि अहं विषयक प्रश्न ही दर्शन का मुख्य प्रश्न है। जीवन की दृष्टि से अहं विषयक प्रश्न सबसे महत्त्व का है क्योंकि हम अपने विषय में जो धारणा रखते हैं उसी पर हमारे सारे दुख सुख, सारे व्यवहार और मूल्य निर्भर करते हैं। पदार्थों की गणना करना या सृष्टि संबंधी प्रश्न अहं विषयक प्रश्न के प्रसंग में आते हैं। अतः ये प्रश्न गौण हैं यही बताना यहाँ पर शङ्कराचार्य का ध्येय है। तमः प्रकाशवत् विरुद्ध स्वभाव कहने का अर्थ यह न समझ लिया जाय कि जैसे प्रकाश अंधकार का नाश कर देता है वैसे ही विषयी विषय का नाश करता है। विषय और विषयी

विरुद्ध स्वभाव वाले हैं किन्तु विरुद्धत्व का अर्थ यह है कि एक ही वस्तु दोनों नहीं हो सकती (विषय और विषयी दोनों नहीं हो सकती)। स्वभाव शब्द भी यहाँ पर स्वरूप केअर्थ में आया है अर्थात् विषय और विषयी दोनों स्वरूपतः विरुद्ध हैं। इसलिए उनके गुणों को या धर्मों को विरुद्ध कहना भी ठीक ही है। यहाँ पर एक और प्रश्न विचारणीय है कि वे क्यों अस्मद् युष्मद् को ही विषय विषयी के रूप में लेते हैं क्यों नहीं अहं सः को या त्वं सः को लेते है। इसका कारण यह है कि व्यवहार में उत्तम और अन्य पुरुष अथवा मध्यम पुरुष और अन्यपुरुष का योग या संबंध मिलता है जैसे एते वयम्, इमे वयं, तत्त्वयम् आदि प्रयोग मिलते हैं किन्तु उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष का योग नहीं बनता है। अतः उनको विरुद्ध कहना ठीक नहीं है। अहंत्वम् को ही विरुद्ध कहा जा सकता है।

यदि हम विषय और विषयी का अध्यारोप एक दूसरे पर करते हैं यद्यपि वे विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, तो यह अध्यारोप मिथ्या ही हो सकता है। यहाँ सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि यह कैसे सिद्ध है कि हम इस प्रकार का अध्यारोप करते ही हैं। इसका प्रमाण यह है कि हम अहं शब्द का प्रयोग शरीर के लिए करते हैं, जब कहते हैं कि मैं बालक हूँ या वृद्ध हूं, या लम्बा हूँ या नाटा हूँ और शरीर को हम चैतन्य समझते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम अहं को शरीर और शरीर को अहं समझकर व्यवहार करते हैं यद्यपि विषयी रूप से अहं और विषयी रूप से शरीर दोनों विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के परस्पर आरोपण को मिथ्या क्यों कहा गया है और किस अर्थ में मिथ्या कहा गया है? मिथ्या तो इसलिए कहा गया है कि ये दोनों एक नहीं हो सकते क्योंकि विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि इस अध्यास के मिथ्यारोप का अर्थ क्या है? क्या ये दोनों सत् हैं और इनका अध्यारोप मिथ्या है? अथवा ये तीनों मिथ्या हैं (विषय, विषयी और उनका अध्यारोप) अथवा इनमें से एक मिथ्या है इसलिए अध्यास भी मिथ्या है। यदि एक मिथ्या है तो उनमें से कौन मिथ्या है? इनमें से विषय और विषयी दोनों को सत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका संबंध (अध्यारोप) मिथ्या है और दो सत् वस्तुओं का अध्यारोप (संबंध) मिथ्या नहीं हो सकता। दोनों को असत् भी भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन दोनों में जो विषयी है उसका निराकरण कभी नहीं किया जा सकता। इसीलिए यह कहना कि ये तीनों (विषय विषयी अध्यारोप) मिथ्या हैं यह भी ठीक नहीं है। अतः यही कहना पड़ेगा कि दोनों में से एक ही

मिथ्या है विषय अथवा विषयी। किन्तु जैसे कि ऊपर बताया गया है विषयी का कभी निराकरण नहीं हो सकता। अतः विषय और उसके अध्यारोप को मिथ्या कहना शेष रह जाता है क्योंकि जैसा रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से स्पष्ट है, जो आरोपित है उसका बाध होता है। बाध ही मिथ्यात्व है इसको ख्यातिवाद के प्रसंग में स्पष्ट किया जायगा।

इस प्रकार यद्यपि विषय और विषयी नितान्त विरुद्ध स्वभाव वाले है और उनके धर्म भी नितान्त विरुद्ध हैं फिर भी उनका परस्पर अध्यारोप अविवेकजन्य ही हो सकता है। इस अविवेक के ही कारण हम सत्य और असत्य का सम्मिश्रण करके अहम् इदं, मम् इदं आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। शङ्कराचार्य के (सत्यानृते मिथुनीकृत्य) शब्दों से स्पष्ट है कि अध्यास में सब कुछ मिथ्या नहीं होता बल्कि सत्यासत्य का सम्मिश्रण होता है। जैसे यह सर्प है इसमें 'यह' सत्य है और सर्पांश मिथ्या है वैसे ही अहम् इदं में अहं सत्य है और इदं मिथ्या है। आगे शङ्कराचार्य कहते हैं कि अहम् इदं मम इदं व्यवहार नैसर्गिक है। इस व्यवहार को नैसर्गिक कहने शङ्कराचार्य का तात्पर्य यह है कि यह व्यवहार (अध्यास) कोई जानबूझकर नहीं करता बल्कि अज्ञात रूप से होता है अर्थात् (अध्यास) अचेतन मन की प्रतीति है और यह प्रतीति सर्वमान्य है, किसी एक दो की नहीं है, किन्तु यह प्रतीति मिथ्या है। यहाँ पर व्यंजना इस बात की है कि प्रतीति मात्र होने से हम किसी वस्तु को सत्य नहीं कह सकते भले ही वह प्रतीति सर्वसामान्य ही क्यों न हो। जैसे सर्वसामान्य की प्रतीति है कि सूर्य और चन्द्रमा छोटे आकार के हैं एवं गतिमान हैं फिर भी विचार करने पर हम इस प्रतीति को मिथ्या ठहराते हैं। शङ्कराचार्य प्रतीति और ज्ञान का भेद स्पष्ट करना चाहते हैं। ज्ञान विवेकपूर्ण है और प्रतीति अविवेकपूर्ण। इसी से ज्ञान द्वारा प्रतीति का बाध होता है किन्तु ज्ञान का बाध संभव नहीं है। बहुत से दार्शनिक हमारी सामान्य प्रतीतियों के आधार पर ही दर्शन का महल खड़ा करना चाहते हैं किन्तु यह प्रक्रिया ठीक नहीं है। सामान्य प्रतीति को दर्शन का आधार सत्यासत्य के विचार के बाद ही बनाया जा सकता है पहले नहीं। अर्थात् प्रतीति को ही ज्ञान मानकर के दार्शनिक विचार शुरू करना गलत है।

इसके अनन्तर शङ्कराचार्य अध्यास के विषय में प्रचलित विभिन्न दार्शनिक धारणाओं का उल्लेख करते है। उनकी मीमांसा करके यह दिखाते हैं कि उनमें कौन अंश ग्राह्य है और कौन सा अंश अग्राह्य है। अध्यास के विषय में दो तीन मुख्य

प्रश्न हैं जिनको ध्यान में रखकर हमको अध्यास के स्वरूप का निर्णय करना होगा। प्रथम प्रश्न तो यह है कि रज्जु-सर्प अध्यास में सर्प दिखायी पड़ता है या नहीं ? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वह सर्प अन्य स्थल या अन्य काल में कहीं प्राप्त हो सकता है ? तीसरा प्रश्न यह है कि भ्रमनिवारण के बाद उस सर्प की क्या स्थिति होती है ? इन तीनों प्रश्नों को ध्यान में रखकर अब हम विभिन्न ख्यातिवादों पर विचार करेंगे और दिखायेंगे कि क्यो अनिर्वचनीय ख्यातिवाद ही मान्य है।

ख्यातिवाद

सत्ख्यातिवाद

पूर्व और पश्चिम दोनों जगह कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि मिथ्या ज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं है। जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह सत् है। "यथार्थं सर्वविज्ञानम्"। ज्ञान का विषय मिथ्या हो ही नहीं सकता है। रज्जुसर्प और स्वप्नादि भी सत्य हैं। ऐसे विचारवालो को सत्ख्यातिवादी कहा जाता है। आचार्य रामानुज इसी मत के हैं और हेगेल भी। रामानुज ने पंचीकरण के सिद्धान्त के आधार पर सर्वं सर्वात्मकम् को स्वीकार किया है। यदि रज्जु सर्पवत् दिखायी पड़ती है तो रज्जु में सर्प का अंश है। सर्प सर्वथा मिथ्या नहीं है।

विचार करने पर मालूम पड़ता है कि सत्ख्याति का सिद्धान्त असंगत है। प्रश्न यह है कि सभी ज्ञान पूर्णरूप से सत्य है या अंशतः ? यदि अंशतः सत्य है तो कोई एक अंश असत्य हुआ। यदि सभी ज्ञान पूर्णरूप से सत्य है तो सर्वसामान्य का विश्वास कि स्वप्नादि पदार्थ या रज्जु-सर्प मिथ्या है यह मिथ्या सिद्ध हुआ। इतना ही नहीं सत्ख्यातिवादी को किसी अन्य सिद्धान्त को मिथ्या कहने का अधिकार नहीं रहेगा क्योंकि सभी ज्ञान सत्य है। यदि यह कहा जाय कि अन्य सिद्धान्त ज्ञान नहीं बल्कि कल्पना मात्र हैं तो यह सिद्ध होगा कि हमारे मन में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य वृत्तियाँ भी हैं। तब यह कैसे निश्चित होगा कि कौन सी वृत्ति कल्पना और कौन सी वृत्ति यथार्थ ज्ञान की है ? अतः सत् ख्यातिवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अख्यातिवाद

यह सिद्धान्त प्रभाकर का है। उनका भी कहना है कि सभी ज्ञान यथार्थ है। जिसे हम भ्रम कहते हैं वास्तव में वह किसी मिथ्या वस्तु का ज्ञान नहीं है बल्कि

रज्जु और सर्प इन दोनों के भेद को ग्रहण न करना है। रज्जु प्रत्यक्ष है और सर्प की स्मृति होती है और इस भेद को न देखकर हम यह सर्प है ऐसा कह देते हैं। यह किसी दोष के कारण होता है। अत: दोष के कारण भेद के ज्ञान का अभाव हो सकता है किसी मिथ्या वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। किसी भी ज्ञान को मिथ्या कहना उसे ज्ञान न कहने के समान है जो आत्म-विरोध है।

प्रश्न यह है कि क्या इदं और रजतम् का अलग-अलग ज्ञान होता है? यदि कहा जाय कि होता है तब दोनों के भेद का ज्ञान क्यों नहीं होता? और दोनों का ज्ञान अलग-अलग नहीं होता है तब यह मानना होगा कि इदं रजतम् यह एक ज्ञान है। दूसरी बात यह है कि यदि यह सर्प है या रजत है ऐसा ज्ञान न होता तो केवल भेद-ज्ञान के अभाव से हम सर्प से डरते क्यों? और रजत से आकृष्ट कैसे होते? ज्ञानाभाव से क्रिया कैसे हो सकती है? यदि यह कहें कि समानता के कारण क्रिया हो सकती है तो जहां भेद का ज्ञान नहीं वहां समानता का ज्ञान कैसे होगा? यदि सर्प को स्मृति माना जाता है तो दो प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि सर्प यदि स्मृति है तो दिखाई कैसे पड़ता है? और यदि यह कहें कि सर्प स्मृति होते हुए दिखाई पड़ता है तब यहाँ स्मृति और प्रत्यक्ष के विषय में भ्रम मानना पड़ेगा। यह कहना कि सर्प दिखाई नहीं पड़ता है सर्वथा अनुभव के विरुद्ध होगा। दूसरा प्रश्न यह है कि सर्प-विशेष जो यहाँ दिखाई पड़ता है वह स्मृति है तो उसे परिचित सा मालूम पड़ना चाहिये परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता। प्रभाकर के लिये यह समझाना कि सर्प इदं के रूप में कैसे मालूम पड़ता है कठिन है। भ्रम का जब निवारण होता है तब हम यह नहीं कहते है कि अरे सर्प तो स्मृतिमात्र था किन्तु यह कहते हैं कि अरे हमने रज्जु को सर्प समझा था।

अन्यथाख्यातिवाद

नैयायिक इस बात को स्वीकार करते है कि सर्प स्मृतिमात्र नहीं है। उनका कथन यह है कि सर्प सत्य हैं और उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है किन्तु यह ज्ञान साधारण प्रत्यक्ष नहीं है प्रत्युत एक प्रकार का असाधारण प्रत्यक्ष है जिसे वे ज्ञान-लक्षणा-प्रत्यासत्ति कहते हैं। अत: इदं का सर्पवत् होना मिथ्या होते हुए भी सर्प सत्य है। सर्प कहीं अन्यत्र है। भ्रम भेदज्ञान का अभाव मात्र नहीं, उसमें अन्यथा ख्याति है। इदं और सर्प का सम्बन्ध मात्र मिथ्या है न इदं मिथ्या हैं न सर्प। भ्रम निवारण का अर्थ यह है कि सर्प यहाँ नहीं है अन्यत्र है।

नैयायिक लोगों की यह विशेषता है कि वे सर्प को प्रत्यक्ष मानते हैं; परन्तु इदं और सर्प दोनों सत्य हैं तो उनके बीच का सम्बन्ध मिथ्या कैसे हो सकता है ? दो सत् पदार्थों का सम्बन्ध भी सत् ही होगा । दूसरी बात यह है कि यदि सर्प अन्यत्र है तो वह यहाँ इस क्षण कैसे दिखाई देगा ? जब हम यह कहते हैं कि सर्प मिथ्या है तो यहाँ दिखाई पड़ने वाले सर्प को मिथ्या कहते हैं । अन्यत्र रहने वाले सर्प को नहीं । यदि सर्प कहीं अन्यत्र हो तो भी यहाँ दिखाई पड़ने वाला सर्प तो नहीं ही है । नैयायिकों के असाधारण प्रत्यक्ष को भी मान लिया तो एक कठिनाई यह होगी कि अनुमान की आवश्यकता नहीं रहेगी और हम यह कह सकेंगे कि धूम्र को देखने से अग्नि का असाधारण प्रत्यक्ष हो गया । इन्द्रियों से सन्निकर्ष न रखने वाली किसी दूरस्थ वस्तु का प्रत्यक्ष मानना नैयायिकों की असाधारण चाल है । अन्यथाख्यातिवादी को भी यह भ्रम तो मानना ही पड़ेगा कि जो असाधारण प्रत्यक्ष है वह साधारण प्रत्यक्ष की तरह से भासता है । अर्थात् यहाँ पर ज्ञानाध्यास है ।

आत्मख्यातिवाद

विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार न तो कोई बाह्य पदार्थ है और न तो कोई नित्य आत्म-तत्त्व है । जो कुछ है वह विज्ञानमात्र है और वह क्षणिक है । अतः रज्जु-सर्प के विषय में उनका कहना है कि विज्ञान के रूप में रज्जु और सर्प दोनों सत्य हैं किन्तु बाह्य पदार्थ के रूप में दोनों असत्य हैं । इदं रजतम् के मिथ्यात्व का अर्थ वे यह लगाते हैं कि "रजतम् इदं न" अर्थात् रजत कोई बाह्य पदार्थ नहीं है । भ्रम के कारण बाह्य पदार्थवत् मालूम पड़ता है ।

प्रश्न यह है कि भ्रम का निवारण वास्तव में इस रूप में होता है कि यह रजत नहीं है या इस रूप में कि रजत यह नहीं है । स्पष्ट है कि निवारण का बाधक स्वरूप यह नहीं है कि रजत यह नहीं है बल्कि यह है कि यह रजत नहीं है । दूसरी बात यह है कि यदि रजत के बाह्यत्व मात्र का निषेध करना है तो उसके लिये सीप के ज्ञान की आवश्यकता है ? परन्तु क्या सीप के ज्ञान के बिना हम यह कह सकते हैं कि यह रजत नहीं है ? विज्ञानवादियों के अनुसार बाह्यार्थ न मानने से ज्ञान तथा स्मृति अथवा कल्पना का भेद नहीं किया जा सकता है । विज्ञान को स्वसंवेद्य मानने से विज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद हो जाता है । यदि प्रत्येक ज्ञान स्वसंवेद्य और क्षणिक है तो यह सर्प है इस प्रकार का ज्ञान ही संभव नहीं है । भ्रम के विश्लेषण से

सहोपलम्भ नियम भी गलत सिद्ध होता है। जिस समय हमको सर्प का प्रत्यक्ष होता है उस समय रज्जु का ज्ञान नहीं रहता फिर भी जब भ्रम का बाध होता है तो हम यही कहते हैं रज्जु वहाँ थी किन्तु हमने उसे सर्प समझ लिया था। अर्थात् रज्जु का अस्तित्व जिस समय रज्जु का ज्ञान नहीं था उस समय भी सिद्ध होता है।

शून्यख्यातिवाद

माध्यमिकों का कहना है कि तत्त्व का स्वरूप शून्य है। भ्रम के कारण हमको तरह तरह की वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं। वास्तव में माध्यमिक रज्जु-सर्प आदि प्रत्यक्ष संबंधी भ्रम का विचार नहीं करते। वे विचार संबंधी भ्रम को ही लेते हैं और कहते हैं कि बुद्धि द्वारा प्रदत्त चतुष्कोटि या चारों प्रकार के संभव सिद्धान्त असत्य हैं क्योंकि असंगत हैं। प्रश्न यह है कि माध्यमिक जिसे मिथ्या कहते हैं उसका स्वरूप क्या है? अवश्य ही वह आकाशपुष्प के समान नहीं है क्योंकि वह प्रतीति का विषय है। परन्तु वह सत् भी नहीं है अतः उसे सत् और असत् से भिन्न कहना पड़ेगा। किन्तु माध्यमिक ऐसा नहीं कहते। वे लोग प्रत्यक्ष अनुभव वाले रज्जु-सर्प का दृष्टान्त भी स्वीकार नहीं करते। वास्तव में वे किसी प्रकार का दृष्टान्त सामने नहीं रखते। अतः वे न तो यह कह सकते हैं कि जगत् किस प्रकार मिथ्या है और न तो यही कह सकते हैं कि भ्रम का कोई अधिष्ठान है। वे यह नहीं कह सकते कि शून्य जगत् का अधिष्ठान है। तब फिर यह मिथ्या जगत् आया कहाँ से? ये सब प्रश्न ऐसे हैं कि माध्यमिक या तो उनका उत्तर नहीं देते या देते हैं तो वेदान्ती हो जाते हैं। अधिष्ठान मानने पर वे वेदान्ती होंगे और न मानने पर वैनाशिक।

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो ऊपर के सभी सिद्धान्तों में किसी प्रकार का अध्यास अवश्य स्वीकार किया गया है। इसी से शङ्कराचार्य कहते हैं कि **"सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां व्यभिचरति"**। अतः भ्रम में एक वस्तु के गुणों को अथवा एक वस्तु को दूसरे पर आरोपित करना ही अध्यास है। भ्रम में जो आरोपित वस्तु है उसे न तो स्मृति कह सकते हैं और न उसे अन्यत्र सत्य कह सकते हैं और न तो उसे सर्वदा असत् कह सकते हैं। रज्जु-सर्प यहाँ इस समय दिखाई पड़ता है और उसका बाध भी यहीं होता है। रज्जुसर्प सत् नहीं है क्योंकि उसका बाध होता है, और न तो आकाश पुष्प के समान असत् है क्योंकि वह दिखाई पड़ता है। और न तो उसे सत् और असत् दोनों कह सकते हैं क्योंकि उसका

कोई अंश स्वीकार नहीं किया जा सकता। देश; काल; स्वरूप, संबंध सब रज्जु के होते हैं। सर्प में सत् अंश कुछ भी नहीं होता है। दिखाई पड़ने के कारण वह असत् भी नहीं है। अतः उसे सत्-असत्-विलक्षण या अनिर्वचनीय कहना ठीक ही है। ब्रह्म को शब्द से परे कहा जाता है, किन्तु उसे अनिर्वचनीय कहना ठीक न होगा क्योंकि वह सत् है, और यद्यपि आकाश-पुष्प का भी वर्णन नहीं किया जा सकता फिर भी वह आकाश-पुष्प अनिर्वचनीय नहीं असत् या अलीक है।

अनिर्वचनीय-ख्यातिवाद के विरुद्ध कई प्रकार की आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। मध्यम परिहार के नियम (ला आफ एक्स्क्ल्यूडेड मिडिल) के अनुसार कोई वस्तु या तो सत् या असत् होती है। उसके अतिरिक्त अनिर्वचीय नाम की कोई चीज नहीं हो सकती। इसका उत्तर यह है कि मध्यम परिहार नियम को पहले मानना अनिवार्य नहीं है। विचार करने के बाद ही हम कह सकते हैं कि उसको स्वीकार किया जाय या नहीं। सारी वस्तुओं को सत् या असत् दो ही वर्गों में बाँट देना तो इस बात का द्योतक है कि मानों हम विचार कर चुके हैं और सब कुछ जान गये हैं। जहाँ अभी अन्वेषण का कार्य चल रहा है वहाँ इस तरह का विभाजन नहीं हो सकता। एक दूसरी आपत्ति यह भी है कि हम जो कुछ देखते हैं सत् है और सत् को ही हम देख सकते हैं, अतः सर्प सत् है। यह आपत्ति सत्ख्यातिवादियों की है और इसका उत्तर दिया जा चुका है। यह भी कहा जाता है कि व्यवहार में तो केवल सत् और असत् का ही प्रयोग होता है। यह ठीक है कि साधारणतया व्यवहार में सत् और असत् का ही प्रयोग होता है किन्तु अनिर्वचनीय साधारण व्यवहार का शब्द नहीं है। यह दो दार्शनिक विवेचन की प्राप्ति है। विचार करने पर हम पाते हैं कि रज्जु-सर्प को हम न सत् कह सकते हैं और न असत् और न दोनों। अतः इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। वेदान्त की भाषा में कहा जाता है कि अनिर्वचनीय को हम अर्थापत्ति द्वारा प्राप्त करते हैं।

रज्जु-सर्प और जगत् दोनों मिथ्या है परन्तु दोनों में भेद है। अतः रज्जु-सर्प को प्रातिभासिक एवं जगत् को व्यावहारिक कहा गया है। उन दोनों का भेद यह है कि प्रातिभासिक व्यक्तिगत भ्रम है किन्तु व्यावहारिक (जगत्) सर्वसामान्य का भ्रम है। व्यावहारिक जगत् दिखने के पहले और दिखने के बाद भी रहता है। परन्तु प्रातिभासिक जब तक दिखता है तभी तक रहता है। व्यावहारिक का बाध किसी

वस्तु-विशेष के ज्ञान से नहीं होता किन्तु ब्रह्म के ज्ञान से होता है; परन्तु प्रातिभासिक के बाध के लिए वस्तु विशेष का ज्ञान पर्याप्त है। व्यावहारिक का ज्ञान प्रत्यक्षादि से होता है किन्तु प्रातिभासिक केवल साक्षीदृष्ट है। इदं रजतम् में इदं का ज्ञान प्रत्यक्ष से और रजतम् का ज्ञान साक्षी से होता है।

अद्वैतवेदान्त में साक्षी की अवधारणा का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि साक्षी के द्वारा ज्ञात, अज्ञात, यथार्थ, मिथ्या आदि सभी वस्तुयें प्रकाशित होती हैं। तर्कतः एक ऐसे चैतन्य को मानना आवश्यक है जिसे अज्ञात भी ज्ञात हो अर्थात् प्रमाता को जो अज्ञात है वह भी उसे (साक्षी को) ज्ञात है। जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमको ऐसा लगता है कि वस्तु यहाँ थी किन्तु हमको उसका ज्ञान नहीं था अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति ज्ञान के साथ ही नहीं होती है नहीं तो ज्ञान और कल्पना में भेद नहीं रह जायगा। ज्ञान भूतवस्तुविषयक (सिद्धवस्तुविषयक) होता है और कल्पना से वस्तु की सृष्टि होती है। अतः वेदान्त मानता है कि प्रमाता को अज्ञात वस्तु भी साक्षी को ज्ञात रहती है। इसी तरह से प्रमाता द्वारा मिथ्यारूप से तिरस्कृत वस्तु भी साक्षी को आभासित होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है साक्षी सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ का प्रकाशित करनेवाला है। परन्तु सर्वज्ञ होते हुए भी साक्षी निर्णायक या प्रमाता नहीं है बल्कि निष्पक्ष है और निष्पक्षत्व के कारण ही साक्षी को सत् और मिथ्या, ज्ञात और अज्ञात दोनों भासित होते हैं। प्रमाता को ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि प्रमाता को एक विशेष दृष्टि होती है। साक्षी-चैतन्य सर्व सामान्य, निष्पक्ष एवं सर्वज्ञ है। प्रमाता जो एक मापदण्ड रखने वाला है वह साक्षी-चैतन्य पर अध्यस्त होकर साक्षी-चैतन्य द्वारा प्रकाशित वृत्तियों का उपयोग करता है। साक्षी एक ही होता है जबकि प्रमाता अनेक होते हैं। साक्षी को सत्यासत्य के द्वैत का ज्ञान नहीं होता है किन्तु प्रमाता को होता है। साक्षी प्रमाता की प्रमाण वृत्तियों के अतिरिक्त अन्य वृत्तियों को भी प्रकाशित करता है। प्रमाता सोता है, स्वप्न देखता है, जागता है किन्तु साक्षी सदा जागरूक है। उसके चैतन्य में ये सब भेद नहीं होते हैं। साक्षी का ज्ञान असीम और प्रमाता का ज्ञान सीमित है।

अनिर्वचनीय ख्याति के विरुद्ध एक यह आशंका की जा सकती है कि अध्यास दो बाह्य वस्तुओं में हुआ करता है परन्तु आत्मा सम्बन्धी अध्यास में आत्मा कोई बाह्य वस्तु नहीं है फिर भी शरीर के साथ उसका अध्यास कैसे हो सकता

है ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यह कोई नियम नहीं है कि अध्यास में दोनों वस्तुएँ हमारे सामने रहने वाले पदार्थ हों। दूसरी बात यह है कि आत्मा भी एक अर्थ में अहं प्रत्यय का विषय है। विषय कहने से यह शंका नहीं होनी चाहिए कि आत्मा विषयी न होकर विषय हो गया क्योंकि प्रत्य-गात्मा का ज्ञान अपरोक्ष है। यहाँ पर शंकराचार्य प्रत्यक्ष न कहकर अपरोक्ष शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे यह दिखाते हैं कि आत्मा का अपरोक्षत्व विषय के प्रत्यक्षत्व से भिन्न है। विषयों का प्रत्यक्षत्व सोपाधिक है अर्थात् इन्द्रियादि साधनों निर्भर करता है किन्तु आत्मा का अपरोक्षत्व ऐसा नहीं है। यहाँ पर यह भी शंका नहीं होनी चाहिये कि यदि आत्मा अपरोक्ष है तो उसके विषय में अध्यास कैसे होता ? क्योंकि अध्यास न तो वहाँ हो सकता है जहाँ सर्वथा अज्ञान हो और न वहाँ हो सकता है जहाँ पूर्ण ज्ञान हो। अध्यास वहीं होता है जहाँ हमारा ज्ञान अपूर्ण रहता है जैसे अयम् का ज्ञान तो रहता है किन्तु अयम् के रज्जु होने का ज्ञान नहीं रहता। आत्मा हैं इसका अपरोक्ष ज्ञान है किन्तु आत्मा अनंत है इसका अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। इसीसे तद्वविषयक (आत्मविषयक) जिज्ञासा को अवसर मिलता है। उन लोगों को जो प्रत्यक्ष वस्तुओं में ही अध्यास मानते हैं ध्यान में रखकर शङ्कराचार्य ने यह भी कहा है कि आकाश के अप्रत्यक्ष होने भी लोग उस पर मालिन्य आरोप करते हैं। अर्थात् अध्यास केवल प्रत्यक्ष वस्तु पर ही नहीं होता।

अध्यास के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि अध्यास किसी वस्तु में वास्तविक परिवर्तन नहीं है किन्तु केवल अविद्याजन्य है। अतः उसका नाश विद्या या विवेक से हो जाता है अर्थात् वस्तु में परिवर्तन न तो विद्या से होता है और न तो अविद्या से। अध्यास के कारण वस्तुमें किसी प्रकार का गुण दोष उत्पन्न नहीं होता अर्थात् अध्यस्त वस्तु के गुण दोष अध्यासवान पर कोई प्रभाव नहीं डालते क्योंकि केवल आरोपण ही नहीं बल्कि जिसका आरोपण करते हैं वह भी मिथ्या है।

विषय विषयी का यह अध्यास जो अविद्या के कारण होता है वही सब प्रकार के लौकिक प्रमाण प्रमेय व्यवहार तथा सभी शास्त्रों का चाहे वह कर्म परक या मोक्ष परक हों आधार है अर्थात् शरीर में विश्वास के बाद ही सभी व्यवहार प्रारम्भ होते हैं। हम सबका शरीर में विश्वास किसी प्रमाण के आधार पर नहीं होता बल्कि स्वयं सभी प्रमाण शरीर में विश्वास के आधार पर निर्भर हैं। इसी लिए अध्यास जो

अविद्या-जन्य हैं उसे प्रमाण प्रमेय व्यवहार का आधार कहा गया है। यह आशंका कि प्रत्यक्षादि प्रमाण और श्रुति अविद्याजन्य कैसे हो सकते हैं निराधार है। क्योंकि आशंका करने वाले यह भूल जाते हैं कि जिस व्यक्ति को अपने शरीर के विषय में अहं मम भाव नहीं रहेगा उस व्यक्ति के लिए उपर्युक्त व्यवहार असंभव है; जैसे सुषुप्ति की अवस्था में जबकि अहं भाव नहीं होता है ये व्यवहार नहीं हो पाते। बिना अहं प्रत्यय के इन्द्रियाँ अपने आप कार्य नहीं कर सकतीं और न शरीर ही काम कर सकता है जैसे सुषुप्ति में। अतः आत्मा के विषय में शरीर इन्द्रिय अहंकार आदि की प्रतीति व्यवहार के लिये आवश्यक है और बिना प्रमातृ रूप अध्यास के प्रमाण प्रमेय व्यवहार नहीं हो सकता। हमारा प्रमाण प्रमेय व्यवहार अविवेकपूर्ण है यह इस बात से सिद्ध होता है कि ये व्यवहार पशुओं में भी पाये जाते हैं जिनको सब कोई अविवेकी कहता है।

सबसे बड़ी कठिनाई शास्त्रों के विषय ये मालूम पड़ती है क्योंकि यह कहना कि शास्त्र भी अविद्या पर आधारित है अटपट मालूम पडता है। किन्तु विचार करके देखा जा सकता कि शास्त्र (कर्मकाण्ड) उस आत्मा के प्रति जो सर्वथा असंग निर्गुण और अव्यवहार्य है लागू नहीं हो सकते क्योंकि विधि निषेध का व्यवहार ब्राह्मण क्षत्रिय आदि भेद पर अवलंबित है और ये भेद शरीर पर आधारित हैं जो अविद्याजन्य हैं। शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा कर्मकांड का विषय नहीं हो सकता क्योंकि वह असंसारी है, जन्म मरण के परे हैं। कर्मकांड विषयक शास्त्र तो उस जीवात्मा से संबंध रखते हैं जिसका जन्म-मरण होता है जो कर्म करता है और स्वर्ग नरक में जाता है। शुद्ध चैतन्य के विषय में तो कहा गया है कि "नैव कुर्वन्नकारयन्"। यही बात मोक्षपरक शास्त्र के विषय में कही जा सकती है क्योंकि वे शास्त्र भी उसी जीवात्मा के लिए सार्थक हैं जिसमें भेद बुद्धि है अहंकार है या अविद्या है। जिसे आत्मा के शुद्ध चैतन्यरूप का ज्ञान हो गया है उसके लिए न शास्त्र की उपयोगिता है न गुरु की। ऐसी शंका की जा सकती है सि शास्त्र गुरु आदि मिथ्या है या अविद्या जन्य है तो इनके द्वारा ज्ञानप्राप्ति या अविद्यानाश कैसे होगा? यह शंका निर्मूल है क्योंकि अविद्याजन्य वस्तु से अविद्याजन्य वस्तु का नाश देखा जाता है जैसे स्वप्न में दृष्ट शेर की हत्या स्वप्न की तलवार से ही की जा सकती है, जागृत अवस्था वाली तलवार से नहीं अर्थात् ब्रह्म अविद्या का नाश नहीं करता है नहीं तो अविद्या रहती ही कैसे? अविद्या का नाश तो अविद्याजन्य प्रमाण प्रमेय व्यवहार से ही होता है।

अध्यास के कारण हम बाह्य वस्तुओं का जैसे पुत्रादि का, शरीर धर्मों का जैसे स्थूलता आदि का; इन्द्रिय धर्मों का जैसे बहरापन आदि का, अन्तः करण धर्मों का जैसे इच्छा आदि का आरोप आत्मा पर करते हैं और आत्मा का आरोप बाह्य वस्तुओं पर करते हैं। इस प्रकार हम परस्पर एक दूसरे का अध्यास करते हैं। यह अध्यास अनादि और अनंत (सीमा रहित), है किन्तु ब्रह्म ज्ञान द्वारा नष्ट होने वाला है। यही हमारे भीतर कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव पैदा करता है जो वास्तव में आत्मा में नहीं है। यह अध्यास अनादि है क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है। कार्य कारण व्यापार और कार्यकारण बुद्धि दोनों ही इस अध्यास के अनन्तर प्रारंभ होते हैं इसलिये इसको अनादि कहा गया है। अनादि शब्द में इस बात की भी व्यंजना है कि यह अध्यास जानबूझकर उत्पन्न की हुई कोई वस्तु नहीं है बल्कि नैसर्गिक या अज्ञातरूप से है। यद्यपि वेदान्त में केवल ब्रह्म सीमा रहित है फिर भी अध्यास को अनंत इसलिये कहा गया है कि यह अनंत ब्रह्म विषयक है (अर्थात् अविद्या अनंत ब्रह्म को आच्छादित करती है) इसलिये यह अध्यास भी अनंत हो गया। यहाँ पर अध्यास का अर्थ हमारे जीवन में आनेवाले रज्जु-सर्प नामक अध्यासों से नहीं है बल्कि मूलाध्यास है जो कि अनंत हैं।

दूसरी बात जो कि शङ्कराचार्य यहाँ कहना चाहते हैं कि वह यह है कि यह अध्यास सभी अनर्थों का कारण है। अतः इसका नाश आत्मविद्या द्वारा जो कि उपनिषदों से प्राप्त होती है आवश्यक है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि जीवन में अनर्थ किन्हीं अन्य कारणों से भी हो सकते हैं जैसे प्रकृति प्रकोप, दैव प्रकोप पाप पुण्य आदि। किन्तु किसी भी बाह्य सांसारिक कारण को जीवन के अनर्थ का हेतु कहना इस बात को भूल जाना है कि वे सब कारण आत्मा पर शरीर इन्द्रिय अन्तः करण आदि के आरोपण के बाद ही प्रभाव कर सकते हैं। जिस व्यक्ति को आत्म-विषयक देहाध्यास न हो उसपर किसी बाह्य कारण का प्रभाव नहीं हो सकता। अतः आत्म-विषयक अध्यास को सभी अनर्थ का मूल कारण कहना ठीक है। सभी उपनिषदों का उपदेश आत्मैकत्व प्रतिपादन करना है और उसी उद्देश्य से शङ्कराचार्य ने शारीरक मीमांसा प्रारम्भ की है।

भक्ति संप्रदाय के लोगों द्वारा यहाँ एक शंका उठायी जा सकती है कि सभी अनर्थों का मूल कारण भगवद्विमुख होना है। अतः अनर्थों के मूल कारण के नाश हेतु भक्ति आवश्यक है यही उपनिषदों का आशय है। यह बात सही है कि उपनिषदों

में तरह तरह की उपासनाओं का, ईश्वर भक्ति तथा ईश्वर कृपा का उल्लेख है। फिर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उपनिषदों में आत्मज्ञान द्वारा अमरत्व की प्राप्ति और शोक से मुक्ति कही गई है। विवेक के आधार पर भी यही जान पड़ता है कि यदि सारे क्लेश भेद बुद्धि के कारण हैं तो उनका नाश अभेद बुद्धि आत्मैकत्व ज्ञान से ही होगा। सभी आचार्य अविद्या को तो मूल कारण मानते ही हैं तो उसके नाश के लिये विद्या को मूल उपाय मानना या आत्मविषयक ज्ञान को उपाय मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? ब्रह्म ज्ञान के उपरान्त यदि अविद्या का नाश न होता तो उसके बाद भी भक्ति आदि की आवश्यकता मानी जाती किन्तु ऐसी बात नहीं है। अतः अविद्या को सभी अनर्थों का मूल हेतु और विद्या अर्थात् आत्मज्ञान को उसके निवारण का साधन कहना ठीक ही है।

जिज्ञासाधिकरण

प्रथमसूत्र

ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करने मे आचार्य लोग केवल सूत्रों के विषय में ही नहीं बल्कि सूत्रों को विभिन्न अधिकरणों में बांटने के विषय में भी मतभेद रखते हैं और ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्रों पर विशेष बल देते हैं। जिज्ञासाधिकरण या प्रथम सूत्र ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' में प्रयुक्त चार शब्दों का अर्थ शङ्कराचार्य ने अलग अलग किया है। ''अथ'' शब्द के विषय में उन्होंने कई विकल्प उठाये हैं और सबका निराकरण करके आनन्तर्य अर्थ को स्वीकार किया है। यह उन्होंने स्पष्ट किया है कि ''अथ'' का अर्थ प्रारम्भ का द्योतक मात्र नहीं है क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा का प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। जानने की इच्छा होने पर ज्ञान के लिये प्रयत्न का प्रारम्भ किया जा सकता है किन्तु स्वयं इच्छा का प्रारम्भ प्रयत्नाधीन नहीं है। इसलिये अथ का अर्थ प्रारम्भ नहीं है और न तो उसका अर्थ केवल मंगलमात्र है क्योंकि अथ शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग होने पर भी वह मंगल सूचक हो जाता है। पूर्व प्रकृतापेक्षा के अर्थ में भी अथ शब्द को लेने पर आनन्तर्य से फल में कोई भेद नहीं पड़ता। अतः ''अथ'' शब्द का अर्थ आनन्तर्य ही मानना चाहिये। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि किस चीज के बाद तुरन्त ब्रह्मजिज्ञासा प्रारम्भ होती है। वैष्णवाचार्य एवं मीमांसकों का कहना यह है कि ''धर्म जिज्ञासा'' के बाद ब्रह्मजिज्ञासा प्रारम्भ होती हैं। अतः आनन्तर्य को हम इस अर्थ में लें कि ब्रह्मजिज्ञासा के पहले धर्म-जिज्ञासा की अपेक्षा होती है। किन्तु शङ्कराचार्य इस प्रकार के आनन्तर्य को नहीं स्वीकार करते। उनका

कहना यह है कि धर्म-जिज्ञासा के पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। जहाँ पर कर्म-कांड में क्रम विवक्षित है वहाँ पर स्पष्ट रूप से कहा गया हैं कि अमुक कर्म के बाद अमुक कर्म होना चाहिये। किन्तु धर्म-जिज्ञासा के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा हो इस क्रम के लिये कोई श्रुति प्रमाण नहीं है। मीमांसकों का यह सिद्धान्त है कि स्वाध्याय का मुख्य तात्पर्य कर्मविषयक ज्ञान प्राप्त करना है क्योंकि श्रुति में यह स्पष्ट आया है कि यज्ञ, दान, तपस्या से ब्राह्मण उस आत्मा को जानने की चेष्टा करते हैं।

''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन इति''

इसका उत्तर शङ्कराचार्य यह देते हैं कि यद्यपि तपस्या और दान बुद्धि की शुद्धता के लिए उपयोगी है फिर भी यह आवश्यक नहीं हैं कि इन्हीं द्वारा वैराग्य उत्पन्न हो। पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण भी वैराग्य उपत्न्न हो सकता है और तदनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। श्रुति ने स्पष्ट कहा है कि अन्य किसी आश्रम से अर्थात् ब्रह्मचर्यादि से ही संन्यास ग्रहण करें। (यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्)।

यदि यह कहा जाता है कि मनुष्य को तीन ऋणों (देव ऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण) से मुक्त होने पर ही संन्यास लेना चाहिए तो उसका अर्थ यह है कि ऋण का बंधन उसी को होता है जो गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर जाता है। यदि बिना गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किये कोई संन्यास ले लेता है तो उसे ऋण का बंधन नहीं होता। मीमांसक लोग कभी कभी इस वाक्य का उद्धरण देते हैं कि 'गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत', किन्तु ऐसे वाक्यों का भी अर्थ हमको श्रुति के अन्य वाक्यों पर ध्यान रखकर करना चाहिये।

''यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत'' अर्थात् जिस क्षण वैराग्य हो उसी क्षण संन्यास लेना चाहिए। जो श्रुति वाक्य् विना स्वाध्याय के संन्यास का विरोध करते हैं (अनधीत्य द्विजो वेदान्) उनका भी यही अर्थ है कि जिनका मन शुद्ध नहीं हुआ है और जिनमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है उनको संन्यास नहीं लेना चाहिये। मीमांसक लोग श्रुति, अर्थ (उपयोगिता), पाठक्रम इत्यादि के आधार पर कर्मों का क्रम निश्चित करते हैं और कहते हैं कि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा में मुख्य और गौण का संबंध है किन्तु शङ्कराचार्य का कथन है कि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है और न तो कहीं स्पष्ट कहा गया है कि अमुक कर्म करने बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है।

उपर्युक्त उत्तरों के अतिरिक्त शङ्कराचार्य ने कुछ प्रबल तर्क दिए हैं जिनसे धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा का मौलिक भेद सिद्ध होता है और यह कथन खंडित होता है कि इन दोनों में क्रम है या मुख्य गौण का संबंध है। प्रथम यह 'कि दोनों के फल में भेद है। धर्म ऐहिक उन्नति के लिए किया जाता है किन्तु ब्रह्मज्ञान का फल निःश्रेयस की प्राप्ति है और वह किसी कर्म पर निर्भर नहीं करता। दूसरी बात यह है कि धार्मिक कार्यों का फल भव्य (अर्थात् भविष्य में होने वाला) हैं क्योंकि वे कर्म-सापेक्ष हैं किन्तु ब्रह्मज्ञान में ब्रह्म भूतवस्तु (सिद्ध वस्तु) है और नित्य होने के कारण कर्म से उनकी प्राप्ति का प्रश्न नहीं उठता है। तीसरी बात यह है कि धर्म विषयक श्रुति मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती है जबकि ब्रह्मविषयक श्रुति केवल ज्ञानमात्र देती कोई कर्म करने को नहीं कहती। जिस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल वस्तु का ज्ञान कराते हैं, कर्म करने की प्रेरणा नहीं देते। ज्ञान मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं करता जब कि धर्म मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है। ज्ञान केवल प्रमाण पर निर्भर करता है। यह बात सही है कि उपनिषदों में ऐसे वाक्यों का भी प्रयोग हुआ है जिनसे जान पड़ता है मानो ब्रह्मज्ञान उपासना आदि क्रियाओं पर निर्भर करता है। (आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः) किन्तु ये सब क्रियायें तो हमको ब्रह्मज्ञान के लिये उपयुक्त बनाने में ही सार्थक हैं न कि ब्रह्मज्ञान उत्पन्न करने में।

अतः यदि ब्रह्मज्ञान के पहले धर्मजिज्ञासा आवश्यक नहीं है तो क्या आवश्यक है जिसके लिए "अथ" शब्द का प्रयोग किया है? उत्तर में शङ्कराचार्य का कहना यह है कि नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादि साधन-सम्पत् और मुमुक्षुत्व ये चार ब्रह्मजिज्ञासा के पहले होना आवश्यक है। इन गुणों के रहने पर ही ब्रह्मजिज्ञासा फलवती होती है। इन गुणों के विना ब्रह्मज्ञान केवल शब्द-ज्ञान मात्र रहता है। यहाँ पर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्रह्मज्ञान केवल बौद्धिक विलक्षणता पर ही निर्भर नहीं करता है। ब्रह्मज्ञान को हृदयंगम करने के लिये अर्थात् ब्रह्मज्ञान को साक्षात् अनुभव करके उसका फल भोगने के लिये उपर्युक्त चार गुणों की आवश्यकता है। आजकल ब्रह्मसूत्र उपनिषद् आदि ग्रंथ पढ़ने और समझने के बाद भी ब्रह्मज्ञान नहीं होता है तो उसका एक मात्र कारण उपर्युक्त गुणों का अभाव ही है। ब्रह्मज्ञान के लिये नैतिक जीवन मात्र भी पर्याप्त नहीं है। भारतवर्ष में तो नैतिक जीवन की उपयोगिता जीवन को दिशाबद्ध और नियमबद्ध करके वैराग्य उत्पन्न करने में ही मानी गयी है। पाश्चात्य देशों में नैतिक जीवन को ही सबकुछ माना जाता है। किन्तु भारतवर्ष में ऐसी बात नहीं है। यूनान के कुछ दार्शनिक प्लेटो आदि

ने नैतिक गुणों के अतिरिक्त आध्यात्मिक गुणों पर बल दिया है और उन्हें नैतिक गुण न कहकर शुद्धिकारक गुण कहा है। अतः नैतिकता और आध्यात्मिकता में भेद करना आवश्यक है।

सर्वविदित है कि अतः शब्द हेत्वर्थक होता है। अतः प्रश्न उठता है कि यहाँ पर अतः किस हेतु की ओर संकेत करता है। स्पष्ट है कि यहाँ हेतु रूप में उपर्युक्त नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि चारों गुणों की अपेक्षा है।

ब्रह्मजिज्ञासा शब्द का अर्थ उस ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा है जिसकी परिभाषा अगले सूत्र में दी जायगी। ब्रह्म से ब्राह्मण वर्ण नहीं जानना चाहिये। ब्रह्म-जिज्ञासा में षष्ठीतत्पुरुष समास है और षष्ठी विभक्ति कर्म अर्थ में है, अन्य किसी अर्थ में नहीं; अर्थात् चतुर्थी तत्पुरुष आदि नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जिज्ञासा ब्रह्म के लिये है बल्कि ब्रह्म विषयक है; क्योंकि चतुर्थी तत्पुरुष वैसी जगह प्रयुक्त होता है जहाँ एक पद दूसरे पद का कोई विकार सूचित करे जैसे भोजन-सामग्री शब्द। ब्रह्म शब्द का प्रयोग शास्त्र में कई अर्थों में हुआ है, जैसे वेद, तप, ब्रह्म, ब्राह्मण, प्रजापति। इन सब का निराकरण अगले सूत्र (जन्माद्यस्य यतः) में दी गई परिभाषा से हो जाता है। शङ्कराचार्य ब्रह्म-जिज्ञासा में शेषे षष्ठी इसलिये नहीं मानते हैं कि उसका अर्थ ब्रह्मसंबंधिनी जिज्ञासा हो जायेगा। तब उसके अन्तर्गत स्वरूप, प्रमाण, युक्ति, साधन, फल आदि का भी अन्तर्भाव हो जायगा। किन्तु शङ्कराचार्य यह कहना चाहते हैं कि चूँकि जिज्ञासा ज्ञान के लिये होती है अतः उसका विषय ब्रह्म ही मानना होगा। विषय के बिना ज्ञान नहीं हो सकता, इसी से वे कर्मणि षष्ठी पर बल देते हैं। पूर्वपक्षी का यह कहना कि शेषे षष्ठी स्वीकार करने पर भी ब्रह्म जिज्ञासा का विषय हो सकता है क्योंकि उसमें ब्रह्म की जिज्ञासा को प्रत्यक्ष विषय न मानकर परोक्ष विषय माना जाता है। पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि शेषे षष्ठी व्यर्थ नहीं है क्योंकि उसके अन्तर्गत ब्रह्माश्रित सभी विचार आ जाते हैं किन्तु ऐसा तो ब्रह्म को प्रधान मानने पर भी हो सकता है। प्रधान के साथ गौण का बोध होता है। जैसे राजा जा रहा है, इसके अन्तर्गत राजा के परिवार आदि का भी अर्थ अन्तर्भूत है।

जानने की इच्छा का नाम जिज्ञासा है। जिज्ञासा का अर्थ केवल बौद्धिक उत्सुकता मात्र नहीं है बल्कि वह ज्ञान है जिसका पर्यवसान अपरोक्षानुभूति में होता है। ज्ञान प्रमाण से प्राप्त होता है। यहाँ पर समस्त संसार के बीज रूप अविद्या का

नाश करनेवाले ज्ञानसे उसका तात्पर्य है। इस प्रसंग में शङ्कराचार्य ने पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग किया है जिसके विषय में यह भ्रम हो सकता है कि ब्रह्म नित्य हैं, उत्पाद्य नहीं है, अतः वह पुरुषार्थ का विषय कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म नित्य है तथापि ब्रह्म-विषयक अज्ञान होने के कारण अज्ञान-नाशक ज्ञान की प्राप्ति पुरुषार्थ हो सकती है। अर्थात् अविद्या का नाश ब्रह्म से नहीं होता है यद्यपि ब्रह्म स्वप्रकाश है, बल्कि ब्रह्म-विषयक ज्ञान से होता है।

अब यहाँ शंका यह होती है कि ब्रह्म क्या सर्वथा अज्ञात है और यदि सर्वथा अज्ञात नहीं है तो क्या ज्ञात है? यदि वह सर्वथा अज्ञात है तो उसके विषय में में जिज्ञासा भी नहीं हो सकती और यदि सर्वथा ज्ञात है तो उसके विषय में जिज्ञासा व्यर्थ है। इसका उत्तर शङ्कराचार्य यह देते हैं कि ब्रह्म न तो सर्वथा अज्ञात है और न सर्वथा ज्ञात है। ब्रह्म है ऐसा ज्ञान तो है किन्तु ब्रह्म के स्वरूप के विषय में ज्ञान नहीं है और उसी से दुःख होता है। यह पूछा जा सकता है कि ब्रह्म है यह ज्ञान कैसे सिद्ध होता है? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म को सबकी आत्मा कहा गया है और सबको यह अनुभव होता है कि मैं हूँ। कोई यह नहीं कहता कि मैं नहीं हूँ। इसका अर्थ यह है कि अस्तित्व वाचक अन्य सभी वाक्यों का निषेध हो सकता है किंतु एक मात्र अस्तित्व वाचक वाक्य जिसका निषेध करना आत्मविरोधी है वह वाक्य है मैं हूँ। अर्थात् विषय मात्र के अस्तित्व का निषेध बिना किसी आत्म विरोध के हो सकता है किन्तु विषयी का नहीं। ब्रह्म विषयक जिज्ञासा का एक कारण और यह भी है कि लोक में आत्मा के विषय में अनेक मत-भेद हैं। अतः यह निश्चय करना आवश्यक हो जाता है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है।

आत्माविषयक विभिन्न मतों का यहाँ संक्षेप में उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। न्याय ने आत्मा चैतन्य विशिष्ट देह है अथवा इन्द्रिय है अथवा मन है अथवा क्षणिक विज्ञान है अथवा शून्य है इन मतों का खंडन पर्याप्त रूप से कर दिया है। अतः हम इन मतों के अतिरिक्त अन्य मतों पर यहाँ विचार करेंगे। न्याय ने अन्य मतों का खंडन तो किया है किन्तु स्वयं न्याय का मत क्या मान्य हो सकता है? न्याय के अनुसार आत्मा अनेक है, नित्य है, और विभु है और कर्ता ज्ञाता भोक्ता है। न्याय आत्मा को सुख दुःख इच्छा द्वेष धर्म अधर्म एवं ज्ञान से युक्त एक द्रव्य-विशेष मानता है। यह प्रश्न उठता है कि क्या ज्ञान किसी द्रव्य का गुण या क्रिया या संबंध हो

सकता है ? पाश्चात्य दर्शन में लॉक नामक दार्शनिक ने देकार्ट के इस मत का कि ज्ञान आत्मा का गुण है,यह कहकर खंडन किया है कि ज्ञान यदि आत्मा का गुण होता तो निद्रा में भी पाया जाता। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः ज्ञान को आत्मा की क्रिया, जो कभी होती है और कभी नहीं होती है, मानना चाहिए। न्याय ने ज्ञान को आत्मा की क्रिया तो नहीं कहा किन्तु नित्य गुण भी नहीं कहा। ज्ञान आत्मा का आने-जानेवाला गुण है जो मन-इन्द्रिय संयोग पर निर्भर करता है। इस प्रकार ज्ञान संबंधजन्य होता है। यहाँ सबसे पहले प्रश्न तो यह उठता है कि ज्ञान गुण है, इसके लिए क्या प्रमाण है? दूसरी बात यह है कि वास्तव में क्या ज्ञान (चैतन्य) उत्पन्न होनेवाली वस्तु है? यदि ऐसा है तो न्याय चार्वाक से कैसे भिन्न होगा? तीसरी बात यह है कि यदि कभी कभी ज्ञान का सर्वथा अभाव माना भी जाय तो उस अभाव का ज्ञान कैसे होगा? अतः न्याय का यह मत कि आत्मा चैतन्य-विशिष्टद्रव्य है, समीचीन नहीं है। इन्हीं कारणों से आत्मा का अनेकत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व आदि भी अमान्य है।

सांख्य ने न्याय का मत खंडन करके यह प्रतिपादित किया है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य है, अनेक है, और भोक्ता है किन्तु कर्ता नहीं है। इस विषय में शंकराचार्य का यह कहना है कि यदि आत्मा को शुद्ध चैतन्य मान लिया जाता है तो न तो उसकी अनेकता सिद्ध हो सकेगी और न तो उसका भोक्तृत्व। सभी भेदों को अज्ञानमूलक कहकर शंकराचार्य ने यह सिद्ध किया है कि न तो एक आत्मा का दूसरे आत्मा से से भेद है और न तो आत्मा और प्रकृति का द्वैत है। प्रकृति को सत्य मानने से सांख्य में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं जिससे शंकराचार्य ने प्रकृति का नाम माया दे दिया है और आत्मा को एक मात्र तत्त्व सच्चिदानन्द स्वरूप अकर्ता अभोक्ता आदि के रूप में माना है।

द्वितीय सूत्र

दूसरा सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" है। जिससे जगत् की सृष्टिप्रलय आदि कहा गया है, वह ब्रह्म है। यह सूत्र ब्रह्म के तटस्थ लक्षण को बताता है। यहाँ पर यह बात ध्यान रखने की है कि यहाँ अनुमान का प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि यह कहा गया है, कि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतियों से जिसे जगत् का कारण बताया गया है वह ब्रह्म है। अतः यह आपत्ति कि जगत् के कारण की सिद्धि अनुमान से नहीं सिद्ध हो सकती है वेदान्त के विरुद्ध नहीं उठती है, बल्कि न्याय आदि के बारे में उठती है।

यहाँ पर दूसरा प्रश्न यह विचारणीय है कि जगत् का कारण क्या ब्रह्म ही हो सकता है और कुछ नहीं ? इस प्रसंग में तीन मत विचारणीय हैं—एक तो मीमांसक-मत, दूसरा सांख्य-मत, तीसरा न्याय-मत। परन्तु उसके पहले हम अनुमान या तर्क के विषय में विचार करेंगे। अनुमान की असमर्थता दिखाने के कारण यह प्रश्न उठता है कि वेदान्त में तर्क या अनुमान का क्या स्थान है, ? क्या तत्त्वज्ञान में तर्क बिलकुल सहायक नहीं है ? इस विषय में शङ्कराचार्य का यह कहना है कि वह अनुमान जो वेदांत वाक्यों के विरुद्ध नहीं है वह तो स्वीकार्य है किन्तु स्वतंत्र अनुमान स्वीकार्य नहीं है। अर्थात् अनुमान द्वारा श्रुति-प्रतिपादित सिद्धान्त को परिपुष्ट किया जा सकता है किन्तु अनुमान को ज्ञान का स्वतंत्र साधन अथवा श्रुति का विकल्प नहीं माना जा सकता—"श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्य अभ्युपेतत्वात्"। स्वतंत्र दृष्टि से तर्क द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसके दो कारण हैं, एक तो ब्रह्म का स्वरूप, दूसरा तर्क का स्वरूप। ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष होने के कारण विचार या अनुमान का विषय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त ब्रह्म अदृष्ट तत्व है, और अनुमान अनिवार्य रूप से व्याप्ति अवलम्बी होने के कारण प्रत्यक्षादि पर निर्भर करता है। अर्थात् अनुमान स्वरूपतः सीमित है। इसलिए उसका विषय ब्रह्म नहीं हो सकता। पाश्चात्य दर्शनों में जहाँ परमतत्त्व का अनुमान किया गया है, वहाँ पर या तो कार्य-कारण के नियम का प्रयोग किया जाता है अथवा अन्तःप्रज्ञा के आधार पर सत्ता और प्रत्यय का अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ा जाता है, जैसे पूर्ण की कल्पना से यह अर्थ निकालना कि पूर्ण का अस्तित्व होना ही चाहिए क्योंकि अस्तित्व के बिना पूर्णता नहीं हो सकती। इन दोनों प्रकार के तर्कों का खण्डन काण्ट ने सफलरूप से किया है। और इनमें से किसी भी प्रकार के तर्क का प्रयोग वेदान्त नहीं करता है। अतः काण्ट की आपत्तियाँ वेदान्त के प्रति लागू नहीं हो सकतीं।

श्रुति के प्रति वेदान्त और मीमांसा के दृष्टिकोण में भेद है। एक तो यह कि मीमांसा का प्रतिपाद्य विषय धर्म केवल श्रुतिगम्य है, अनुमान और अनुभवगम्य नहीं। किन्तु वेदान्त का ब्रह्म केवल श्रुतिगम्य नहीं है बल्कि उसे अनुमान के द्वारा भी परिपुष्ट किया जा सकता है और अनुभव में उसकी परिणति होती है। स्वर्गादिक का अनुभव हम यहाँ नहीं कर सकते किन्तु ब्रह्म का अनुभव हमको यहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि धर्म मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करने वाली वस्तु है। हम उसे चाहें तो करें या न करें। किन्तु वस्तुज्ञान हमारी इच्छा पर अवलम्बित नहीं है,

वह तो वस्तुतंत्र है। ब्रह्म भूतवस्तु है अतः अन्य प्रमाणों का भी विषय हो सकता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ब्रह्म अन्य वस्तुओं की तरह दृष्ट नहीं है बल्कि अदृष्ट है। यदि ब्रह्म भी दृष्ट होता तो, उसका सम्बन्ध इस दृष्ट जगत् से कारण के रूप में मान लिया जाता। परन्तु ऐसा नहीं है। अतः ब्रह्म अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है। पाश्चात्य दर्शन में भी यह स्वीकार किया गया है कि शुद्ध तर्क से वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। तर्क वस्तु का ज्ञान तभी दे सकता है, जब वह अनुभवावलम्बी हो। इसीसे भारतीय अनुमान में उदाहरण का महत्व है जो पाश्चात्य अनुमान में नहीं पाया जाता।

यहां पर प्रसंगतः एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या दर्शन को श्रुति पर अविलम्बित होना आवश्यक है या दर्शन को स्वतंत्र विचार के रूप में होना चाहिये। पाश्चात्य दार्शनिक विशेषकर आधुनिक काल के दार्शनिक और उनके प्रभाव में आने वाले कुछ भारतीय दार्शनिक भी यह सोचते हैं कि श्रुति का सहारा तो उपासकों और धर्म में रुचि रखने वालों के लिये ठीक है; क्योंकि ये सब केवल श्रद्धा के विषय हैं, किन्तु दर्शन तो स्वतंत्र खोज है। उस खोज के पहले ही विचार को श्रुति के पाँव में बाँध देना दर्शन की स्वतन्त्रता को त्याग देना है। यह बात सही है कि दर्शन एक खोज हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वह किसी दृष्टवस्तु की खोज है या परतत्त्व की। जहाँ तक दृष्ट वस्तुओं का सम्बन्ध है उनकी खोज विज्ञान विशद रूप से कर रहा है और दर्शन उससे सम्बन्ध नहीं रखता। दर्शन के सामने तो प्रश्न यह है कि इस दृष्ट जगत् के पीछे कोई अदृष्ट तत्त्व है या नहीं? क्या केवल तर्क के आधार पर इस प्रश्न का निर्णय किया जा सकता है? जो लोग तर्क की सीमाओं को जानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि तर्क अनुभव से प्राप्त प्रदत्त के बाहर सफल नहीं हो सकता वे केवल तर्क के आधार पर अदृष्टतत्त्व का ज्ञान असम्भव मानेंगे। कुछ लोग बुद्धि को अतीन्द्रिय तत्त्वों के ज्ञान का साधन मानते हैं किन्तु बुद्धि तो ज्ञान का स्वतन्त्र साधन दृष्ट जगत् में भी नहीं है तो फिर अदृष्ट के विषय में कैसे हो सकती है? अतः यदि हम अदृष्टतत्त्व की खोज करना चाहते हैं और उसके लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है तो अवश्य ही हमको किसी ऐसे व्यक्ति की बातों पर निर्भर होना होगा, जो उस तत्त्व को जानने का दावा करता है। अदृष्टतत्त्व तो अलग रहे, दृष्ट के विषय में भी साधारण जीवन में हमको दूसरों के कथन के आधार पर निर्भर करना पड़ता है जैसे वैद्य आदि। प्रश्न यह है कि श्रुति को स्वीकार कर लेने मात्र से क्या हमारी स्वतंत्रता

मारी जाती है? यह भी बात नहीं है, क्योंकि श्रुति जो कहे उसके पक्ष-विपक्ष में तर्क करने को कोई मना नहीं करता है। एक बात अवश्य है बिना तर्क और अनुभव द्वारा परीक्षा किये श्रुति का तिरस्कार करना वैसी ही मूढता होगी जैसे किसी के बताये हुये मार्ग पर विना चले ही कह देना कि वह मार्ग गलत है। अथवा जैसे डाक्टर की दवा बिना खाये ही कह देना कि वह दवा गलत है। यह बात सही है कि श्रुति के विषय में बहुत से प्रश्न उठते हैं जैसे किसे श्रुति माना जाय और किसे नहीं अथवा श्रुतियों में ही विरोध हो तो क्या किया जाय इत्यादि, परन्तु इन प्रश्नों पर अच्छी तरह विचार करना चाहिये न कि श्रुति का तिरष्कार। हमारा निष्कर्ष यह है कि दर्शन का प्रारम्भ श्रुति के आधार पर होता है, किन्तु दर्शन श्रुति को स्वीकार कर लेना मात्र नहीं है बल्कि श्रुति-वाक्यों पर विचार कर सत्य का निश्चय करना है और वेदान्त की विशेषता तो यह है कि वह एक ऐसे तत्त्व पर पहुँचता है जिसका अनुभव भी उचित साधनों के द्वारा इसी जीवन में किया जा सकता है। केवल बौद्धिक आधार पर जो दर्शन प्रस्तुत किये जाते हैं, उनमें से किसी का यह दावा नहीं है कि उनके द्वारा प्रतिपादित परम तत्त्व का अनुभव अपरोक्ष रूप से इसी जीवन में हो सकता है। अतः ऐसे दर्शन तो केवल बुद्धि-विलास मात्र हैं। इसीसे वेदान्त ने ब्रह्म को जगत् का कारण तर्क के आधार पर न मानकर श्रुति के आधार पर माना है।

जगत् का कारण ब्रह्म है या अन्य कोई तत्त्व, इसपर विचार करने के पहले यह निश्चय करना होगा कि जगत् की सृष्टि हुई है या नहीं। यह प्रश्न इसलिये उठता है कि कुछ दार्शनिक जैसे मीमांसक, बौद्ध और जैन यह घोषणा करते हैं कि जगत् अनादिकाल से इसी प्रकार चला आ रहा है और चलता रहेगा। इसका कोई स्रष्टा नहीं है प्रारंभ नहीं है। किन्तु यह विचारणीय प्रश्न है कि जगत् की सभी वस्तुएँजब कार्यरूप हैं, तो समष्टि रूप से जगत् को कार्य क्यों न माना जाय? दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त दार्शनिक भी यह स्वीकार करते हैं कि जगत्-व्यापार और जगत् वैचित्र्य में हमारे कर्मों का हाथ है (कर्मजं लोकवैचित्र्यम्) तो क्या हमारे पूर्वजन्म के या भूतकाल के कर्म अपने आप बिना किसी विधान के जगत् को प्रभावित करते रहते हैं? पूर्वजन्म के कर्म इस जन्म में कैसे प्रभावकारी हो सकते हैं इस समस्या को उपर्युक्त दर्शन हल नहीं कर पाते। यदि कर्मों को और कर्मफल व्यवस्था को भी न स्वीकार किया जाय तबतो चार्वाक सिद्धांत के अतिरिक्त या उच्छेद वाद के

अतिरिक्त और कोई विकल्प न रहेगा। अतः जगत्-व्यापार के पीछे कोई योजना स्वीकार करना आवश्य क है जिसका अर्थ अन्ततोगत्वा यह होगा कि जगत् की सृष्टि हुई है।

सर्वप्रथम सृष्टि के विषय में हम सांख्यमत को लेंगे। इस मत का खण्डन ब्रह्म-सूत्र में २।२।१–१० सूत्रों में किया गया है। सांख्य के विरुद्ध आक्षेप यह है कि जगत् में जो रचना दिखाई पड़ती है वह केवल जड़ प्रकृति के द्वारा सम्भव नहीं है। जड़ प्रकृति में तो तो रचना की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि प्रकृति स्वभावतया सृष्टि करती है तो कुछ अन्य कठिनाइयां उत्पन्न होंगी। एक तो यह कि प्रलय सम्भव ही नहीं होगा। दूसरी यह कि सांख्य का दिया हुआ बछड़े और गाय का उदाहरण दो जड़ वस्तुओं का उदाहरण नहीं है बल्कि जीवों का उदाहरण है। तीसरी बात यह कि यह श्रुतिवाक्यों के विरुद्ध बात है। यह कहना कि पुरुष-सान्निध्य से सृष्टि प्रारंभ होती है समझ में नहीं आता। क्योंकि पुरुष के विभु होने के कारण तो सान्निध्य बराबर रहेगा अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जड़ और चेतन में कभी सान्निध्य हो ही नही सकता। किसी प्रकार प्रकृति को कारण मान भी लिया जाय तो भी सृष्टि सम्भव नहीं है, क्योंकि जड़ प्रकृति का कोई उद्देश्य नहीं हो सकता, और सांख्य का यह कहना कि सृष्टि मानव के भोग और मुक्ति के लिए है, अनुपपन्न हो जायेगा। इस प्रसंग में अन्धे और लँगड़े का उदाहरण भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अंधे और लंगड़े दोनों चैतन्य हैं। एक और कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि प्रकृति के तीनों गुणों में समानता है। मुख्य-गौण सम्बन्ध नहीं है अतः प्रकृति की विषमावस्था कैसे दूर होगी, यह बताया नहीं जा सकता। इसलिये सांख्य का सृष्टि-सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। उपर्युक्त आलोचना से ऐसा जान पड़ेगा कि सांख्य की एकमात्र कमी ईश्वर को न मानना है किन्तु ऐसी बात नहीं है। योग में ईश्वर को माना गया है किन्तु उसे स्रष्टा नहीं माना गया है। न्याय तथा अन्य ईश्वरवादी ईश्वर को स्रष्टा मानते हैं किन्तु उनका सिद्धांत भी वेदांत को मान्य नहीं है।

पाश्चात्य ईश्वरवाद यह मानता है कि ईश्वर ने अपनी शक्ति से जीवों एवं भौतिक जगत् की रचना की अर्थात् ईश्वर को किसी उपादान कारण या सामग्री की आवश्यकता नहीं रहती, अपनी अनन्तशक्ति से वह जीव और जगत् की सृष्टि कर लेता है। इस सिद्धान्त में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। एक तो यह कि यदि आत्मा की भी

सृष्टि माना जाय तो आत्मा मर्त्य हो जायेगा। दूसरे यह कि क्या सत्ता की भी सृष्टि की जा सकती है? तीसरे यह कि यदि ईश्वर को अशरीरी कहा जाय तो वह कैसे इस भौतिक जगत् की सृष्टि कर देता है? इन्हीं सब कारणों से भारतवर्ष में यह पाश्चात्य सिद्धान्त मान्य नहीं है।

भारतवर्ष में न्याय में ईश्वर को स्रष्टा माना गया है किन्तु ईश्वर के साथ-साथ आत्मा, अणु आदि तत्वों को भी नित्य माना गया है अर्थात् ईश्वर इन तत्वों की सृष्टि नहीं करता, बल्कि इनकी सहायता से जगत् की सृष्टि करता है। यह सिद्धान्त यद्यपि ईश्वरवादी है फिर भी वेदान्त को मान्य नहीं है। आपत्तियाँ कई प्रकार की हैं। सर्वप्रथम तो अणुओं से सृष्टि कैसे होगी, यह बात समझ में नहीं आती क्योंकि अणु परिमाणहीन और अविभाज्य हैं। अतः प्रश्न होता है कि परमाणुओं के मिलने से परिमाणविक वस्तुएँ कैसे बनेंगी? कठिनाई यह होती है कि जब एक अणु दूसरे अणु से मिलता है तो पूर्णरूप से मिलता है या अंशरूप से। यदि पूर्णरूप से मिलता है तो दो अणु मिलकर एक हो जायेंगे और अंशरूप से मिलता है तो अणु में अंश मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि इन अणुओं का किस शक्ति से संयोग होता है? वह शक्ति दृष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि दृष्टपदार्थ सृष्टि के बाद आते हैं। यदि कोई अदृष्ट शक्ति मानी जाती है तो प्रश्न उठता है कि वह शक्ति कहाँ रहती है आत्मा में या अणु में? किसी भी हालत में सृष्टि नहीं हो सकती क्योंकि अणु भी जड़ है और नैयायिकों की आत्मा भी इन्द्रिय मनःसंयोग के पहले जड़वत ही है। एक कठिनाई यह होती है कि आत्मा और अणु दोनों निरवयव हैं। इसलिए उनका संयोग नहीं हो सकता। समवाय सम्बन्ध जो कार्यकारण में पाया जाता है उसके सम्बन्ध में भी कठिनाई होती है। समवाय सम्बन्ध का सम्बन्ध कैसे होता है? अणुओं को स्वाभाविक रूप से क्रियाशील माना जाय तो प्रलय नहीं हो सकता, और यदि उनको अदृष्ट के द्वारा क्रियाशील माना जाय तो भी कभी प्रलय नहीं होगा क्योंकि वह बराबर रहता है। इसके अतिरिक्त आपत्तियाँ ब्र. सू. २।२।११ से २।२।१६ तक अणुवाद के विरुद्ध दी गयी हैं।

यदि ईश्वर को स्रष्टा माना जाय तब भी कठिनाइयाँ होती हैं, क्योंकि प्रश्न यह उठेगा कि ईश्वर सशरीरी है या अशरीरी? अगर सशरीरी माना जाय तो भी वह अणुओं को एकत्र नहीं कर सकता और अशरीरी माना जाय तो अणुओं का संयोग नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में न्याय का असत्कार्यवाद और निमित्तकारणवाद दोनों आलोचना के विषय होते हैं जिस पर विचार अन्यत्र किया जायेगा।

बौद्ध जगत् की सृष्टि अविद्याजन्य कह कर सृष्टि को अनादि मानते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि अविद्या से संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, आदि उत्पन्न होते हैं। बौद्धों के तीन विशेष मत हैं। एक वस्तुवादी, दूसरा विज्ञानवादी और तीसरा शून्यवादी। वस्तुवादी रूप विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार को सत्य मानकर अविद्या द्वारा सृष्टि मानते हैं और विज्ञानवादी केवल विज्ञान को सत्य मानते हैं और शून्यवादी सब कुछ असत् मानते हैं। यदि रूपादि स्कन्धों को सत् माना जाय तो प्रश्न यह है कि स्कन्ध बनते कैसे हैं ? किसी निमित्त कारण की आवश्यकता होगी। यदि अविद्या को ही निमित्त माना जाय तो कई कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम यह कि अविद्या जड़ होने के कारण निमित्त कारण नहीं हो सकती, दूसरी यह कि अविद्या स्वयं क्षणिक है या नित्य है ? क्षणिक होने से अविद्या कारण नहीं हो सकती और नित्य होने से क्षणिकवाद में दोष आ जायेगा और अविद्या का नाश भी नहीं हो सकेगा। तीसरी कठिनाई यह है कि अविद्या का आश्रय क्या है ? इसका भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। विशेषकर शून्यवाद में यह प्रश्न उठता है कि यदि सब कुछ अविद्याजन्य है तो अविद्या का आश्रय क्या है ? यदि कुछ है तो वह चैतन्य ही होगा और ऐसा करने से शून्यवाद वेदान्त बन जायेगा, और आश्रय न मानने से शून्यवाद वास्तव में शून्य-वाद ही हो जाता है और मुक्ति आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार सभी बौद्ध मत असंतोषजनक हैं।

सृष्टि के प्रसंग में ब्रह्मपरिणामवाद की भी चर्चा कर देना आवश्यक है। कुछ वेदान्ती ब्रह्म को निमित्तोपादान कारण मान कर जगत् को ब्रह्म का परिणाम कहते हैं। इस तरह ये लोग एकतत्त्ववादी तो रह जाते हैं किन्तु अद्वैतवादी नहीं होते। क्योंकि ब्रह्म के परिणामरूप जो भेद हैं उनको भी सत्य मानना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य कठिनाइयाँ भी उत्पन्न होती हैं। ब्रह्म पूर्णरूप से परिणामी है या अंशरूप से ? यदि अंशरूप से परिणामी है तो ब्रह्म में परिणामी और अपरि-णामी दो अंश हो जायेंगे। और पूर्णरूप से परिणामी है तो ब्रह्म अपूर्ण हो जायेगा। दूसरे शब्दों में ये लोग सजातीय भेद तो नहीं मानते किन्तु स्वगत भेद मानते हैं। किन्तु शङ्कराचार्य ब्रह्म में स्वगत सजातीय और विजातीय तीनों भेदों का निराकरण करके सृष्टि को विवर्त रूप में मानते हैं।

सृष्टि के प्रसंग में कारणकार्य के संबंध का भी प्रश्न उठता है। कार्यकारण सम्बन्ध के विषय में भारतीय दर्शन में तीन प्रधान मत हैं, असत्कार्यवाद या आरम्भ-

वाद, सत्कार्यवाद तथा विवर्तवाद। असत्कार्यवाद का कथन यह है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य सर्वथा असत् है, कारण से सर्वथा भिन्न है, और समवायिकारण के अतिरिक्त अन्य कारणों की अपेक्षा रखता है (असमवायि और निमित्त); किन्तु सत्कार्यवादी सांख्य का कहना यह है कि जिसका सर्वथा अभाव है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और कार्य कारण से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि तब किन्हीं दो भिन्न वस्तुओं में कार्यकारण की सम्भावना हो जायगी जबकि कार्यविशेष के लिए कारण विशेष की अपेक्षा होती है। इसके अतिरिक्त कार्यकारण में समानताएँ भी देखी जाती हैं। अतः कारण में कार्य का सर्वथा अभाव कहना ठीक नहीं है। कारण में कार्य पहले से वर्तमान रहता है और जब व्यक्त होता है तो उसे कार्य कहा जाता है। अतः सांख्य असत्कार्यवाद का खण्डन करके सत्कार्यवाद की स्थापना करता है। वेदान्त सत्कार्यवाद के द्वारा असत्कार्यवाद का खण्डन उचित समझता है किन्तु सत्कार्यवाद को पूर्णरूप से नहीं मानता। यह कहना कि असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती ठीक है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या उत्पत्ति या अभिव्यक्ति वास्तविक है? यदि उत्पत्ति वास्तविक है और यदि कार्यकारण में अंशतः भी भेद है तो उस अंशतः भेद को उत्पत्ति के पहले असत् ही मानना पड़ेगा और तब सत्कार्यवाद में असत्कार्यवाद का प्रवेश हो जायगा। अतः वास्तविक उत्पत्ति को मानकर कार्यकारण सम्बन्ध की समस्या को न तो असत्कार्यवाद और न सत्कार्यवाद हल कर सकता है। कार्यकारण यदि सर्वथा भिन्न हैं तो उनमें सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि अंशतः भिन्न हैं तो भी अंशतः भेद में भी वही समस्या खड़ी होगी और यदि कार्यकारण दोनों सर्वथा एक हैं तो उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः वेदान्त यह कहता है कि कार्य की वास्तविक उत्पत्ति नहीं होती, केवल उसकी उत्पत्ति का आभास होता है, क्योंकि सत् अपरिवर्तनशील है और असत् अनुत्पाद्य है। अतः जो कुछ कार्यकारण भाव या उत्पत्ति नाश देखने में आता है वह रज्जु-सर्प के समान अविद्याजन्य है। यही विवर्तवाद है। बिना वास्तविक परिवर्तन के परिवर्तन का आभासित होना विवर्त है। ब्रह्म पूर्णरूप से अपने स्वरूप में स्थित होते हुए भी अविद्या के कारण परिवर्तनशील जगत् के रूप में दिखाई पड़ता है। अतः जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है। जन्माद्यस्य यतः को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहने का अभिप्राय यही है कि ब्रह्म वह अपरिवर्तनशील तत्त्व है, जिसका विवर्त या आभास जगत् है। किन्तु वह तत्त्व क्या है, जड़ है या अजड़ है या दोनों है यह इस परिभाषा से स्पष्ट नहीं होता। अतः वेदान्त में एक दूसरी परिभाषा की आव-

श्यकता होती है जिससे ब्रह्म के स्वरूप का पता चले। वह परिभाषा यह है कि ब्रह्म सच्चिदानन्द है। सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म भी कहते हैं। परन्तु इस परिभाषा के कारण अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। प्रथम यह कि यदि ब्रह्म शब्दों से परे है, तो शब्द द्वारा उसकी परिभाषा कैसे की जा सकती है? दूसरी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि ये तीनों शब्द क्या ब्रह्म के विशेषण हैं, अर्थात् क्या ब्रह्म में विशेष्यविशेषण भेद है? तीसरी कठिनाई यह भी होती है कि इन तीन शब्दों (सत्, चित्, आनन्द या सत्यं, ज्ञानम्, अनन्तम्) का परस्पर सम्बन्ध क्या है? चौथा प्रश्न यह है कि तीन ही क्यों? तीन से कम या अधिक क्यों नहीं हो सकता है?

ब्रह्म वाणी के परे है, इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म के विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता है। यदि ऐसा होता तो ब्रह्मविषयक उपदेश कैसे सम्भव होता। शब्दों से परे होने का अर्थ यह है कि इदंतया अथवा विषय के रूप में ब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्रह्म के विषय में दो ही तरह के शब्द प्रधानतया श्रुति में मिलते हैं, एक तो निषेधार्थक, "नेह नानास्ति किंचन, नेति नेति", इत्यादि, दूसरे अखण्डार्थक, जैसे तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, इत्यादि। ये दोनों प्रकार के वाक्य किसी विषयवस्तु का वर्णन नहीं करते बल्कि किसी अपरोक्ष अनुभव की ओर संकेत करते हैं। भाषा का प्रधान उद्देश्य विषय वर्णन है, और ब्रह्म विषय नहीं है, ब्रह्म विषयी है, अतः वह भाषा से परे है। अतः इस बात में विरोध नहीं है कि ब्रह्म भाषा से परे है और भाषा द्वारा उसका लक्षण भी किया जाता है।

सत् चित् आनन्द आदि शब्दों को ब्रह्म का विशेषण नहीं मानना चाहिये। इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि ये शब्द भावार्थक नहीं बल्कि अभावार्थक हैं, अर्थात् सत् से असत् की व्यावृत्ति, चित् से जडत्व की व्यावृत्ति और आनन्द से सीमितता या दुःख की व्यावृत्ति होती है। दूसरा कारण यह है कि ब्रह्म में सब प्रकार के भेदों का अभाव है। अतः विशेष्य-विशेषण की कल्पना नहीं की जा सकती। पाश्चात्य दर्शनों में ईश्वर को द्रव्य कहकर उसके गुणों की व्याख्या की जाती है, परन्तु ये परिभाषाएँ असफल होती हैं, क्योंकि प्रश्न यह उठता है कि द्रव्य गुणों का समवेत मात्र है या गुणों से परे है? यदि वह गुणों का समवेत मात्र हुआ तो द्रव्य नाम की कोई वस्तु ही नहीं रहेगी और यदि वह द्रव्य गुणों से परे है तो गुणों द्वारा उसकी परिभाषा या वर्णन नहीं हो सकता। इसीसे वेदान्त इस तरह की परिभाषाओं का आश्रय नहीं लेता।

तीसरा प्रश्न इन तीनों (सत्, चित्, आनन्द) के परस्पर सम्बन्ध का है। इस सम्बन्ध में वेदान्त सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म के विषय में अनेक निषेध हो सकते हैं, जैसे अदृष्टम्, अव्यवहार्यम् अग्राह्यम्, अलक्ष्यम्, अचिन्त्यम्, अद्वैतम् आदि, किन्तु इन निषेधार्थक वाक्यों से ब्रह्म के अपरोक्ष स्वरूप का संकेत नहीं मिलता, किन्तु सत् चित् आदि पद ब्रह्म के अपरोक्षत्व की ओर संकेत करके उसके स्वरूप को बताते हैं। इसीसे केवल इन्हीं को स्वरूप लक्षण कहा गया है। और ये तीनों उस एक ही तत्त्व के विषय में निषेध करते हैं, अतः तीनों समानार्थी न होते हुए भी तीनों का संकेत एक ही तत्त्व की ओर है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि तीन ही क्यों? तीन से अधिक या कम क्यों नहीं, तो उसका उत्तर यह है कि आत्मविषयक तीन मुख्य धारणाएँ कि हम शरीर हैं, सीमित हैं और मर्त्य हैं, ये ही सर्वसामान्य है, और अज्ञानद्योतक हैं, अतः इन तीनों का निवारण करके ही आत्मा के स्वरूप का ज्ञान कराया जा सकता है। इसीसे ये ही तीनों पद ब्रह्मस्वरूप बोधक माने गये हैं। तीन से कम होने पर आत्म-विषयक अज्ञान की प्रधान शाखाओं का उच्छेदन नहीं हो सकता है और इन तीन से अधिक की भी आवश्यकता यहीं है क्योंकि अन्य निषेधों का अन्तर्भाव इनमें हो जाता है।

ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण पर विचार करते समय एक प्रसंग स्मरण हो आता है, वह यह है कि यदि ब्रह्म सर्वथा निर्गुण, निराकार निर्विशेष है तो माध्यमिकों के शून्य से किस प्रकार भिन्न है? यह प्रश्न विचारणीय इसलिये हो जाता है कि एक तरफ तो लोगों ने शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध (शून्यवादी) कहा है और दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जो नागार्जुन के शून्यवाद को शङ्कराचार्य के ब्रह्मवाद का रूप देते हैं। यह इसलिये होता है कि शङ्कराचार्य एवं नागार्जुन में भेद और समानता दोनों है। केवल समानता पर बल देना उतना ही गलत है जितना केवल भेद पर बल देना। यह सत्य है कि शङ्कराचार्य और नागार्जुन दोनों व्यवहार और परमार्थ के भेद पर बल देते है। दोनों जगत् को मिथ्या कहते हैं। दोनों तत्त्व को मन और वाणी के परे मानते हैं। और दोनों ही निषेध या खण्डन विधि पर बल देते हैं। यह समानता होते हुए भी दोनों में भेद करना आवश्यक है, क्योंकि इन दोनों ने एक दूसरे का खण्डन भी किया है यह भूलना नहीं चाहिये। दोनों में भेद यह है जिस प्रकार शंकर ब्रह्म को जगत् का कारण और अधिष्ठान मानते हैं, वैसा नागार्जुन कहीं भी स्पष्टतया नहीं कहते। यदि शून्यवादी निरधिष्ठान भ्रम मानते हैं तो उनके विरुद्ध शङ्कराचार्य की

आपत्तियाँ ठीक ही हैं। यदि भ्रम निरधिष्ठान नहीं है तो वेदान्त के विरुद्ध माध्यमिकों की आपत्तियाँ अनुचित हैं, क्योंकि तब वेदान्त और माध्यमिक एक हो जाते हैं। एक दूसरा भेद यह है कि जहाँ पर ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप कहा गया है, वहाँ शून्य के बारे में ऐसा कुछ नहीं कहा हे। तीसरा भेद यह है कि वेदान्त में ब्रह्म और आत्मा का अभेद माना जाता है जबकि शून्य वाद में इस प्रकार की कोई बात नहीं मिलती।

ब्रह्म को जगत् का कारण बताने के प्रसंग में एक प्रश्न यह भी विचारणीय है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म जड़, स्थूल, जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? ब्रह्म-कारणत्व के विषय में कुछ लोग आपत्तियाँ करते हैं। एक आपत्ति तो शास्त्र के आधार पर की जाती है और कहा जाता है कि सृष्टि के विषय में या सृष्टि के क्रम के विषय में श्रुति में परस्पर विरोधी वाक्य मिलते हैं। जैसे कहीं तो कहा जाता है कि सृष्टि का कारण आत्मा है, अथवा सृष्टि का कारण असत् है और कहीं कहा गया है कि यह उत्पत्ति सत् से हुई है और कहीं सृष्टि को अनायास उत्पन्न माना गया है। इस शंका का उत्तर यह है कि हमें श्रुति का प्रयोजन दो-चार वाक्यों के आधार पर निश्चित नहीं करना चाहिये, बल्कि उन वाक्यों के प्रसंग के आधार पर और समस्त श्रुति का समन्वय करके करना चाहिये। जो लोग ब्रह्म के अतिरिक्त और कारण मानते हैं उनके लिये तो इससे भी कम श्रुति-प्रमाण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान में रखने की है कि श्रुति का मुख्य विषय सृष्टिविषयक वर्णन नहीं है, बल्कि समस्त सृष्टि में व्याप्त एक तत्त्व का प्रतिपादन करना है या ऐक्य दिखाना है। दूसरे प्रकार की आपत्ति तर्क के आधार पर है। कहा जाता है कि सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य और कारण समान होने चाहिये किन्तु ब्रह्म और जगत् सर्वथा भिन्न है। चैतन्य ब्रह्म से जड़ जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता। यहाँ लोग भूल जाते हैं कि ब्रह्म से जगत् की वास्तविक उत्पत्ति नहीं है बल्कि जगत् ब्रह्म का विवर्त है या अविद्याजन्य आभास है। ब्रह्मसूत्र २।१।६ (दृश्यते तु) में शङ्कराचार्य ने यह कहा है कि गोबर आदि जड़-वस्तु से भी कीड़ों की उत्पत्ति देखी जाती है और चैतन्य से जड़ आदि की भी उत्पत्ति देखी जाती है जैसे मनुष्य के नख, बाल आदि की उत्पत्ति। अत: कार्यकारण को सर्वथा समान नहीं समझा जा सकता। सर्वथा समान मानने पर तो उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठेगा। अत: कार्यकारण में किसी अंश में भेद तथा किसी अंश में समानता माननी पड़ेगी। ब्रह्म और जगत् में समानता यह है कि दोनों में अस्तित्व और प्रकाश है।

अस्ति भाति प्रियं रूपं, नाम चेत्यंशपंचकम् ।
आद्यं द्वयं ब्रह्म रूपं, जगद्रूपं ततोऽन्तरम् ॥

ब्रह्म और जगत् में भेद यह है कि ब्रह्म आनन्द रूप है और जगत् दुःख रूप। यह भी आपत्ति की जाती है कि सृष्टि के पहले यदि जगत् असत् था, तो वेदान्ती को असत् कार्यवादी होना पड़ेगा। यह आपत्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यरूप जगत् सृष्टि के पहले कारणरूप ब्रह्म में स्थित रहता है। पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि ऐसी स्थिति में तो जगत् के गुण दोष भी ब्रह्म में समाविष्ट हो जायेंगे। इतना ही नहीं, ब्रह्म में समाविष्ट हो जाने के उपरांत पुनः सृष्टि का कोई कारण नहीं दीखता, और मुक्तपुरुषों के पुनर्जन्म का भी प्रश्न पुनः सृष्टि के समय उठ जाता है। (ब्रह्मसूत्र २।१।४ से २।१।१०) जगत् के ब्रह्म में समाविष्ट होने से जगत् के दोष ब्रह्म में इसलिये नहीं प्रवेश कर सकते कि जगत् के गुणों का विलय होने के उपरान्त ही उसका ब्रह्म में विलय होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कार्य कारण के समान होता है न कि कारण कार्य के समान। परन्तु इससे यह भी अर्थ नहीं निकालना चाहि कि जगत् के दोष यदि ब्रह्म में न होते तो वे कार्यरूप जगत् में कैसे आते, क्योंकि जगत् तो वास्तव में मिथ्या है। पुनः सृष्टिविषयक आपत्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि गाढ़ी निद्रा में किसी प्रकार की अनेकता न दिखाई पड़ने पर जागने पर अनेकता दिखाई पड़ती है। उसी प्रकार प्रलय के बाद भी सृष्टि होती है। क्योंकि उस समय भी सर्वबीजरूपा अविद्या रहती है। मुक्तपुरुषों की अविद्या का नाश हो जाता है अतः उनका पुनर्जन्म सम्भव नहीं है। सांख्य द्वारा दी गयी ऊपर की आपत्तियाँ तो स्वयं सांख्य के विरुद्ध प्रकृति के प्रति भी लागू होती हैं।

तृतीय सूत्र

"शास्त्रयोनित्वात्"

तीसरा सूत्र "शास्त्रयोनित्वात्" का अर्थ प्रायः यह लगाया जाता है कि ब्रह्म वह है जो कि शास्त्र की योनि या कारण है। इससे दो बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। एक तो यह कि ब्रह्म सर्वज्ञ है—"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" और दूसरे यह कि शास्त्र का एकमात्र कारण ब्रह्म ही हो सकता है। यह बात शास्त्र (वेद) और तर्क दोनों से सिद्ध की जा सकती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट आया है कि "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यत् ऋग्वेदः"। यहाँ पर श्रुति स्वयं कहती है कि ब्रह्म ही वेद का कारण है। अर्थात् यहाँ पर दो मतों का खण्डन विवक्षित है—एक तो मीमांसा मत जिसके अनुसार वेद अपौरुषेय है—और दूसरा

कुछ दार्शनिकों का मत कि वेद मानवकृत है। मीमांसकों का मत कि जगत् और वेद अनादि हैं, वेदान्त को मान्य नहीं है क्योंकि वेदान्त जगत् की सृष्टि और प्रलय मानता है लेकिन फिर भी वेद को मनुष्यरचित नहीं मानता, क्योंकि तर्कदृष्टि से भी यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। वेद का विषय अदृष्टवस्तु है—जैसे पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक, देवी, देवता, एवं ब्रह्म। ये विषय किसी भी अन्य प्रमाण से ज्ञेय होते तो वेद की निरर्थकता हो जाती क्योंकि प्रत्येक युग में मनुष्य इनको अपने प्राप्त साधनों से ही जान लेता किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। श्रुति की परिभाषा ही यही है कि श्रुति वह है जिसके द्वारा अन्य प्रमाणों से जो गम्य नहीं है उसका ज्ञान प्राप्त हो। अतः या तो उपर्युक्त विषयों का सर्वथा निषेध करें या उनमें अविश्वास करें अथवा उनको श्रुतिमात्रगम्य मानें। इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। उनका निषेध किसी प्रमाण के द्वारा हो नहीं सकता क्योंकि कोई भी प्रमाण उसी का निषेध कर सकता है जो उसका विषय हो परन्तु उपर्युक्त विषय अन्य प्रमाणगम्य नहीं हैं। अत. अन्य प्रमाण के द्वारा उनका निषेध भी नहीं हो सकता है। उनमें अविश्वास किया जा सकता है लेकिन यदि अविश्वास साधार है तो उसका निराकरण भी किया जा सकता है। यदि यह अविश्वास निराधार है या इस आधार पर अवलम्बित है कि ये विषय अनुभवगम्य नहीं है, तो ऐसा अविश्वास केवल पूर्वाग्रहवादिता होगा। और ब्रह्म के विषय में तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म सर्वथा लोकोत्तर है। ब्रह्म का अनुभव तो यहाँ भी किया जा सकता है। ब्रह्मज्ञान के लिये गुरु की आवश्यकता है, यह सर्वविदित है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि गुरु का गुरु कौन है? इस परम्परा से हमको एक ऐसे गुरु की आवश्यकता मालूम पड़ती है जिसका गुरु कोई न हो। अर्थात् जो नित्य मुक्त सर्वज्ञ हो। यही ईश्वर है। इसीसे वेदों की उत्पत्ति है। इस प्रकार आदि गुरु के रूप में और वेद रचयिता के रूप में ब्रह्म (ईश्वर) की अनिवार्यता सिद्ध होती है। कुछ लोग वेदान्त में ईश्वर के महत्व को नहीं समझते, और केवल माया और ब्रह्म को ही महत्व देते हैं। तत्त्व की दृष्टि से भले ही ये दोनों महत्व रखते हों किन्तु तत्त्वज्ञान की दृष्टि से मायोपहित ब्रह्म (ईश्वर) का महत्व स्वीकार ही करना पड़ेगा। यही इस सूत्र की विशेष शिक्षा है। यहाँ पर एक आशंका की जा सकती है कि ब्रह्म का ज्ञान शास्त्र द्वारा और शास्त्र (वेद) स्वयं ब्रह्म द्वारा माने जाने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। किन्तु यह आशंका ठीक नहीं है। क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान शास्त्र पर निर्भर है न कि स्वयं ब्रह्म का अस्तित्व। अतः उत्पत्ति की दृष्टि से शास्त्र बाद में आता है किन्तु ज्ञान की दृष्टि से शास्त्र की प्राथमिकता है।

इसका तात्पर्य इतना ही है कि ब्रह्म या ईश्वर यदि स्वयं अपने को प्रकट न करे या अपना ज्ञान न दे तो किसी भी प्रकार उसका ज्ञान हो नहीं सकता है। यहाँ पर एक भेद और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वह है ज्ञान और प्रकाश(चैतन्य) का भेद। ब्रह्म प्रकाश या चैतन्य स्वरूप है, किन्तु प्रमा या ज्ञानस्वरूप (वृत्ति ज्ञान) नहीं, यदि ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप होता तो अविद्या क्षणमात्र भी नहीं टिक सकती, अविद्या का नाश हो जाता। परंतु अविद्या का विरोध प्रकाश या चैतन्य से नहीं है बल्कि विद्या या प्रमाणजन्य ज्ञान से है। अतः ब्रह्म में अविद्या होते हुए भी उसका नाश तभी होता हैं जब प्रमाणजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है। ईश्वर में वही ज्ञान है जो अविद्यानाशक होता है। इसीसे ईश्वर सर्वज्ञ है। अर्थात् वह अपने को ब्रह्म के रूप में जानता है। ये भी शंका नहीं होनी चाहिये कि ईश्वर सत्य (वेदवाक्य) को उत्पन्न करता है। ईश्वर सत्य उत्पन्न नहीं करता है, सत्य-ज्ञान को उत्पन्न करता है। सत्य तो नित्य है। इस दृष्टि से सत्य ईश्वर के परे है, क्योंकि ईश्वर अपने को ब्रह्मरूप में जान कर ही सत्य का ज्ञाता होता है। लेकिन ईश्वर ब्रह्म से भिन्न भी नहीं है, क्योंकि वह अपने को स्वयं ब्रह्म के रूप में जानता है, अर्थात् ज्ञान की दृष्टि से ईश्वर और ब्रह्म भिन्न होते हुये भी तत्व की दृष्टि से दोनों एक ही हैं। उनको उच्चतर और निम्नतर कहना ठीक नहीं हैं।

तीसरे सूत्र का शंकराचार्य ने एक दूसरा अर्थ भी किया है। वह यह है कि ब्रह्म वह है जो शास्त्र के द्वारा जाना जाय। उनका कहना यह है कि दूसरे सूत्र में (जन्माद्यस्य यतः) यह स्पष्ट नहीं है कि जगत् के कारण रूप में ब्रह्म शास्त्र के द्वारा ज्ञातव्य है। इसी को इस तृतीय सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है।

चतुर्थ सूत्र

'तत्तुसमन्वयात्'

चौथे सूत्र 'तत्तु समन्वयात्' में मुख्यतः दो प्रश्न किये गये हैं। एक तो यह कि वेद का उद्देश्य केवल विधि कर्म बताने में हैं अथवा विधिकर्म तथा ब्रह्म ज्ञान दोनों में ? दूसरा प्रश्न है ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध के विषय में। अतः इस सम्बन्ध में मीमांसकों के मत को पूर्वपक्ष बनाकर वेदान्त वाक्यों के विषय में शंकायें उठाई गयी हैं। प्रथम शंका जैमिनि के इस सूत्र से उठती है 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्य-मतदर्थानाम्' अर्थात् शास्त्र क्रियापरक है। अतः वेदान्त वाक्य अक्रियार्थक होने के कारण अनर्थक हैं। अथवा यह कहा जा सकता हैं कि वे क्रिया के गौड अंश हैं, (विधिशेष) अथवा उपासना आदि के रूप में नई प्रकार की क्रिया बताने वाले हैं।

भूमिका में ही इन शंकाओं का उल्लेख कर पूर्वपक्ष बताया गया है। यह भी शंका की गयी है कि वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य सिद्ध वस्तु है तब तो वह वस्तु प्रत्यक्ष आदि के द्वारा भी जानी जा सकती है और तब शास्त्र की व्यर्थता सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त सिद्धवस्तु हेयत्व और उपादेयत्वरहित होने के कारण पुरुषार्थ का विषय नहीं हो सकती। सूत्र में "तु" शब्द से इस पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति सूचित है। तात्पर्य यह है कि वेदान्त वाक्यों से ही जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय आदि के कारण रूप ब्रह्म का ज्ञान होता है, क्योंकि सभी वेदान्त वाक्यों का समन्वय उसी अर्थ में होता है। ऐसा अर्थ न करने से या अर्थान्तर करने से श्रुतिहानि का प्रसंग उठता है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि वेदान्त वाक्यों का प्रयोजन किसी कर्ता का ज्ञान कराना है; क्योंकि "तत्केन कं पश्येत्" आदि वाक्यों से क्रियाकारक फल का निराकरण हो जाता है। यह भी कहना ठीक नहीं कि सिद्धवस्तु या परिनिष्ठित वस्तु होने के कारण ब्रह्म प्रत्यक्षादि का विषय हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म तत्वमसि आदि वाक्यों द्वारा केवल श्रुतिगम्य ही है। सर्वथा निर्गुण निराकार होने के कारण ब्रह्म प्रत्यक्षादि का विषय नहीं हो सकता। यह भी कहना ठीक नहीं है कि सिद्धवस्तु या परिनिष्ठित वस्तु होने के कारण ब्रह्म पुरुषार्थ का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मज्ञानमात्र से फल की प्राप्ति या सर्वक्लेश प्रहाण बताया गया है। यदि उपासना का अर्थ देवताओं की उपासना है तो उसका वेदान्त से विरोध नहीं है, किन्तु ब्रह्म को उपासना क्रिया का विषय नहीं माना जा सकता, क्योंकि ब्रह्म में द्वैत का सर्वथा अभाव होने के कारण अथवा हेयोपादेय शून्य होने से उसमें क्रियाकारकादि की सम्भावना नहीं है। एक बार ब्रह्म ज्ञान हो जाने के बाद पुनः द्वैत की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः ब्रह्म ज्ञान के बाद उपासना सम्भव नहीं मानी जा सकती। यद्यपि यह सही है कि अन्यत्र वेदवाक्यों का प्रमाणत्व विधि या क्रिया के उपदेश में ही है फिर भी चूँकि आत्मज्ञान का फल में पर्यवसान (क्लेशनाश में पर्यवसान) है अतः वेदान्त वाक्यों की प्रामाणिकता में संदेह नहीं किया जा सकता। कोई ऐसा अनुमान नहीं कर सकता कि वेदवाक्य प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे विधि का उपदेश करते हैं। वेदवाक्यों की प्रामाणिकता स्वतः है न कि अनुमानजन्य या परतः।

कुछ लोग यद्यपि ऐसा कहते हैं कि वेदान्तवाक्य ब्रह्म के विषय में प्रमाण है, फिर भी उसे ब्रह्म की प्रतिपत्ति विधि (उपासना विधि) का अंग मानना चाहिये क्योंकि "तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः" इत्यादि वाक्यों से क्रिया की ही प्रधानता सिद्ध

होती है। जैसे स्वर्गादि प्राप्त करने वालों के लिये अग्निहोत्रादि करने का उपदेश है उसी प्रकार अमृतत्व की प्राप्ति के लिये ब्रह्मज्ञान का उपदेश है। यदि कोई ऐसी शंका करे कि धर्मज्ञान के फल से ब्रह्मज्ञान के फल का वैलक्षण्य होना चाहिये, क्योंकि कर्मकाण्ड में धर्म जिज्ञास्य है, और ज्ञानकाण्ड में ब्रह्म तो उसका उत्तर मीमांसक यह देते हैं कि भेद होने पर भी स्वर्ग और अमृतत्व दोनों अदृष्ट फल के रूप में समान ही हैं। यदि श्रुति के श्रवणमात्र से ब्रह्मज्ञान हो जाने वाला होता तो क्रिया या उपासना की उपादेयता नहीं रहती परन्तु ऐसा नहीं होता। उपर्युक्त शंका का उत्तर वेदान्ती कर्म और ब्रह्मविद्या के फल में वैलक्षण्य दिखा कर देते हैं। उनका कहना यह है कि धर्म और अधर्म ये दोनों शरीरधारी से ही हो सकते हैं, और इनका फल सुख-दुःख भी शरीरधारी के लिये ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त धर्म, अधर्म तथा उनके फलरूप सुख-दुःख में तारतम्य देखा जाता है किन्तु ब्रह्मज्ञान तथा उसके फल अमृतत्व और आनन्द के लिये न तो शरीर की अपेक्षा है और न तो उसमें कोई तारतम्य है। छान्दोग्य में स्पष्ट कहा गया है कि "अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत:"। यदि मोक्ष धार्मिक क्रिया का फल होता तो उस स्थिति में प्रिय और अप्रिय या सुख दुःख दोनों का अभाव कैसे होता ? यदि यह कहे कि अशरीरत्व ही धर्मानुष्ठान का फल है तो यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि अशरीरत्व तो आत्मा का स्वरूप ही है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आत्मा प्रकृति आदि के रूप में परिणामी नित्य नहीं है बल्कि उसमें कूटस्थ नित्यता है अर्थात् वह सब प्रकार के विकारों से परे है। यदि मोक्ष को धर्मानुष्ठान का फल माना जाय तो सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी कि कार्य होने के कारण मोक्ष अनित्य हो जायगा। किन्तु मोक्ष को कोई भी मोक्षवादी अनित्य नहीं मानता। इसी से श्रुतियाँ ब्रह्मविद्या के उपरान्त और मोक्ष के पहले दोनों के बीच में कार्यान्तर का निवारण करती है। ब्रह्मज्ञान और मोक्ष में कोई कार्यान्तर वैसे ही नहीं है जैसे कहा जाता है कि कोई खड़ा होकर गाता है, तो खड़े होने और गायन क्रिया के मध्य में कोई दूसरी क्रिया नही होती। अतः अविद्यानिवृत्तिमात्र ही मोक्ष है।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह ब्रह्मात्म्यैकत्व ज्ञान एक काल्पनिक तादात्म्य है जैसे मन अनन्त है और विश्वेदेवा अनन्त हैं; अत: उसे अनन्त रूप की प्राप्ति हो जाती है। यहाँ दोनों की समानता के आधार पर अनन्तता दिखाई गई है। ब्रह्मात्म्यैकत्व इस प्रकार की समानता नहीं है, और न तो यह अध्यासरूप है, जैसे

'मनो ब्रह्मेति उपासीत' में मन को या सूर्य को ब्रह्म रूप में मान किया जाता है। और ब्रह्मज्ञान न तो विशिष्ट क्रिया योग का निमित्त है जैसे वायु सब को निगलने वाला है (वायुर्वाव संवर्गः) और न तो यह किसी क्रिया के पहले संस्कार रूप है।

ब्रह्मज्ञान सम्पत् रूप इसलिये नहीं है कि "तत्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों में साक्षात् एकत्व का प्रतिपादन है। अन्य अर्थ करने से श्रुतियों के प्रति अन्याय होगा। अतः ब्रह्मात्म्यैकत्व केवल काल्पनिक नहीं है। ब्रह्मविद्या पुरुष-व्यापार-तंत्र नहीं है। प्रत्यक्षादि में जैसे ज्ञान वस्तु-तंत्र होता है, उसी प्रकार ब्रह्म-विद्या भी वस्तुतंत्र है। अतः ब्रह्म का क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। ऐसा भी नहीं सोचना चाहिये कि यह विधिक्रिया (ज्ञानक्रिया) का विषय है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न कहा गया है। (अन्यदेव तत् विदितादन्यो अविदिता-दधि केन) और यह भी कहा गया है कि येनेदं सर्वं विजानाति तत् केन विजानीयात्। इसी से ब्रह्म को उपासना का विषय भी नहीं मानते क्योंकि स्पष्ट कहा है कि "नेदं यदिदमुपासते।" यहां पर एक शंका यह खड़ी होती है कि यदि ब्रह्म विषय नहीं है तो उसका ज्ञान शास्त्र द्वारा भी नहीं हो सकता। यह ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन केवल अविद्या का निवारणमात्र है, न कि ब्रह्म को "यह" या "वह" के रूप में बताने का। शास्त्र स्पष्टतया ब्रह्म को प्रत्यक् आत्मा के रूप में या अविषय के रूप में बताता है। इसीसे कहा गया है कि वह मन वाणीं आदि के परे है। और यह भी कहा गया है कि 'यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः"। इन्हीं युक्तियोंसे मोक्ष संपत् रूप या अध्यास रूप है या विशिष्ट क्रिया योग निमित्त है या संस्कार रूप है इन कल्पनाओं का भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि ऐसा होने पर निश्चय ही मोक्ष अनित्य हो जायगा। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म प्राप्य होने के कारण कार्यापेक्ष्य है क्योंकि ब्रह्म तो आत्म स्वरूप ही है और सर्वगत है। आत्मा से भिन्न मानने पर भी वह सर्वगत होने के कारण सर्वदा प्राप्त है। मोक्ष संस्कार रूप इसलिए नहीं है कि ब्रह्म में न तो किसी नवीन गुण को जोड़ा जा सकता है और न तो उसमें से किसी दोष को हटाया जा सकता है। यह कहना कि शीशे (आत्मा) पर से अविद्या रूप धूल को हटाना मोक्ष है अतः वह संस्कार है, ठीक नहीं है। क्योंकि यदि आत्मा में कोई क्रिया या परिवर्तन सम्भव हो तो आत्मा अनित्य हो जाता। स्मृति भी कहती है कि" अविकार्योऽयमुच्यते"। यदि क्रिया या संस्कार को अन्यत्र माना जाय तो उसका आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। स्नान आचमन आदि से केवल शरीरादिक का

ही संस्कार होता है न कि शरीरी का। जिसमें अहंभाव या देहात्मभाव है उसीसे क्रिया होती है और उसी पर क्रिया का प्रभाव होता है।

ज्ञान और क्रिया के भेद के प्रसंग में यह शंका हो सकती है कि ज्ञान भी तो एक मानसी क्रिया है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि ज्ञान भी एक मानसिक वृत्ति है, फिर भी उसे क्रिया नहीं कहा जा सकता, क्योंकि क्रिया पुरुष चित्त-व्यापार के अधीन होती है, वस्तुस्वरूप के अधीन नहीं होती, जब कि ज्ञान ठीक इसके उलटा वस्तु-स्वरूपाधीन होता है न कि चित्तव्यापाराधीन। ध्यान चिन्तन आदि भी मानसिक हैं और उनको क्रिया भी कहा जा सकता है। क्योंकि वे पुरुष के द्वारा किये जा सकते हैं, नहीं किये जा सकते हैं, अथवा भिन्न रूप से किये जा सकते हैं। ज्ञान मानसिक व्यापार होते हुये भी क्रिया नहीं है क्योंकि वह प्रमाणजन्य है। और प्रमाण वह है जिसका विषय यथाभूत वस्तु हो। अत: ज्ञान के विषय में करें, न करें अथवा अन्यथा करें ऐसा प्रश्न नहीं उठता। ज्ञान केवल वस्तु-तंत्र होता है, वह न तो किसी क्रिया पर निर्भर करता है न पुरुष की इच्छा पर। अतः मानसिक होते हुए भी ज्ञान और क्रिया में महान अन्तर है।

उपर्युक्त कारण से ब्रह्मज्ञान विधिकार्य का विषय नहीं हो सकता। ब्रह्म के विषय में विधिपरक वाक्य वैसे ही असफल हो जाते हैं, जैसे पत्थर पर तीर। क्योंकि विधि का विषय वही हो सकता है, जो हेय या उपादेय हो, किन्तु ब्रह्म परिनिष्ठितवस्तु होने के कारण हेय या उपादेय नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठ सकता है कि तब विधिपरक वाक्यों का क्या अर्थ होगा ? उसका उत्तर यह है कि हमारी जो स्वाभाविक बहिर्मुखी वृत्ति है उस वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने का यहाँ प्रयोजन है। क्योंकि जब कर्मों से या बहिर्मुखी वृत्ति से जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती है और उनके प्रति वैराग्य होता है तब श्रुति कहती है—"आत्मा वा रे द्रष्टव्यः" अब आत्मा की ओर अपना ध्यान ले जाओ। और जब मनुष्य का ध्यान आत्मा की ओर आता है तब श्रुति "अयमात्मा ब्रह्म" या "तत्त्वमसि" का उपदेश करती है। अतः ब्रह्मज्ञान का सम्बन्ध किसी क्रिया या हानोपादान से नहीं हैं। यह वेदान्ती के लिये दूषण नहीं बल्कि भूषण है। "अलङ्कारोऽयमस्माकम्"। ब्रह्मज्ञान के उपरान्त सभी प्रकार के कर्तव्य अकर्तव्य का अन्त हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से सर्वप्राप्ति हो जाती है। शरीर आदि किसी भी विषय की चिन्ता नहीं रह जाती है। मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

यह कहना कि वेद का कोई भी अंश केवल वस्तुवादी नहीं है अथवा यह कहना कि ब्रह्मज्ञान विधिनिषेध का सहकारी है, गलत है। असंसारी आत्मा, जिसका उपदेश उपनिषद् में है, वह चतुर्विध विकारों से और जन्ममरण से परे है। परन्तु वह कुछ नहीं है इस रूप में उसका निषेध भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो निराकर्त्ता है, वही तो आत्मा हैं। ऐसी शंका करना भी ठीक नहीं है कि आत्मा अहंप्रत्यय का विषय है अत: उसके लिए उपनिषद की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उपनिषद अहं प्रत्यय का उपदेश नहीं करते बल्कि सम रूप सर्वभूतस्थ, कूटस्थ, साक्षी रूप आत्मा का उपदेश करते हैं और अहं विषयक अज्ञान को दूर करते हैं।

अत: हम यह नहीं कह सकते कि वेद वस्तु विषयक ज्ञान नहीं देता। जो लोग यह आग्रह करते हैं कि वेद में केवल कर्म विषयक ज्ञान है वे भी स्वीकार करते हैं कि विधिशेष के रूप में वेद वस्तु-ज्ञान देता है। यदि वेद विधिशेष के रूप में वस्तुज्ञान देता है तो क्यों नहीं वह नित्य आत्मा के विषय में ज्ञान दे सकता है ? वस्तुज्ञान तो वस्तु-ज्ञान है। विधि शेष होने के कारण वस्तुज्ञान क्रिया नहीं हो जाता। अत: मीमांसकों का यह कहना कि वेद वस्तुज्ञान नहीं देता ठीक नहीं है। श्रुति परिनिष्ठित वस्तुभूत ब्रह्म का ज्ञान कराती है। वेदांती इस पर इसलिये आग्रह करते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान श्रुति भिन्न अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता। मीमांसकों में एक दूसरा भी आत्म-विरोध पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि वेद केवल कर्म की शिक्षा देते हैं, तो यह वाक्य कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' निरर्थक हो जाता है, यह न तो क्रिया परक है और न क्रिया का साधन है। उपर्युक्त कठिनाई से बचने के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" का अर्थ है 'ब्राह्मणस्य हननं न कर्तव्यम्' क्योंकि अहनन क्रिया नहीं है।

ऐसी शंका की जाती है कि श्रुति-श्रवण के उपरान्त भी मनुष्य का संसारित्व देखा जाता है जिससे यह सिद्ध होता है कि केवल वस्तु-ज्ञान से किसी चीज की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ब्रह्मज्ञ पुरुष का संसारी होना दिखाया नहीं जा सकता। वेद इस बात का प्रमाण है कि ब्रह्मज्ञान होने पर अहंभाव के नाश होने से मिथ्याज्ञानजन्य सुख-दुःख नहीं रहते। जैसे एक धनिक व्यक्ति धन की हानि होने से दुःखी होता है और प्राप्ति होने से सुखी होता है किन्तु वही व्यक्ति जब संन्यास ले लेता है, तो धन की प्राप्ति और धन की हानि का प्रभाव उस पर नहीं

पड़ता है। श्रुति स्पष्ट कहती है, "अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।" यहाँ यह भी शंका नहीं होनी चाहिये कि अशरीरत्व मृत्यु उपरान्त ही प्राप्त हो सकता है, क्योंकि बन्धन देह से नहीं बल्कि मिथ्याज्ञानजन्य देहाभिमान से होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर देहाभिमान का नाश ही आत्मा का अशरीरत्व है। और वह यहीं प्राप्य है। यह शंका करना कि देह की प्राप्ति पाप-पुण्य से होती है अतः देह की मुक्ति पापपुण्य के क्षय होने से होगी ठीक नहीं है, क्योंकि पापपुण्य आत्मा के बन्धन-कारक तभी होते जब वे आत्मा के द्वारा किये जाते। परन्तु आत्मा निष्क्रिय है और पापपुण्य मिथ्याज्ञान जन्य अहं के कारण होते हैं। शरीर को पाप-पुण्य के कारण कहना और फिर पापपुण्य को शरीर के कारण कहना अन्योन्याश्रय होगा। बीजांकुरवत् पापपुण्य और शरीर को अनादि कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि बीज विशेष द्वारा जो अंकुर पैदा होता है, उसी अंकुर द्वारा वही बीज विशेष नहीं पैदा होता, बल्कि एक नया बीज पैदा होता है। अतः अनादित्व कल्पना अन्धपरम्परा है। आत्मा में कर्तृत्वादि नहीं है अतः उसमें धर्म, अधर्म भी नहीं है। अहंकारपरक कर्तृत्वादि तो मिथ्याज्ञानजन्य है।

यह कहना कि आत्मा के विषय में अहंकार की प्रतीति गौण है न कि मिथ्या, ठीक नहीं, क्योंकि मुख्य और गौण का भेद तो दो प्रसिद्ध वस्तुओं में हुआ करता है जैसे पुरुष सिंह में। किन्तु अहं की प्रतीति आत्मज्ञान के रहते हुए नहीं होती, बल्कि आत्मज्ञान के अभाव में या अविद्या की स्थिति में होती है। आत्मा और अनात्मा के भेद को जानने वाले पण्डित जनों में भी देहाभिमान या अहंप्रत्यय आत्म-ज्ञान के विस्मृत हो जाने पर ही होता है। जानबूझ कर कोई आत्मा के लिये अहं का प्रयोग नहीं करता। इससे यही सिद्ध होता है कि देहाभिमान अविद्या के ही कारण होता है, और अविद्या के नाश हो जाने पर इसी जीवन में अशरीरत्व की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मविषयक श्रुति के श्रवण के उपरान्त भी मनन और निदिध्यासन नाम की क्रिया होती है, अतः यह शंका न होनी चाहिए कि ब्रम्हज्ञान के उपरान्त भी क्रिया सम्भव है क्योंकि ये क्रियायें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से पहले होती हैं। स्वयं ब्रह्म-ज्ञान किसी क्रिया का साध्य नहीं है। ब्रह्मज्ञ के लिए क्रिया सम्भव है, न आवश्यक। सभी विधिवाक्यों का तथा सभी विधियों का तथा प्रमाणों का पर्यवसान "अहं ब्रह्मास्मि" में है। अहेयोपादेय स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर सभी विषयों और सभी प्रमाणों का अन्त हो जाता है क्योंकि वहां कोई द्वैतभाव नहीं रहता।

शांकरभाष्य ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री (अनुवाद)
(अध्यासभाष्य)

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः। इत्यतः अस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथाप्यन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, 'अहमिदम्, ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

आह—कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।
तं केचिद्— ''अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः'' इति वदन्ति।
केचित्तु—''यत्र यदध्यासः, तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः'' इति।
अन्ये तु—''यत्र यदध्यासः, तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनाम्'' आचक्षत इति।
सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति।

मैं और तुम अथवा विषयी विषय का स्वभाव तमःप्रकाशवत् विरुद्ध होने के कारण उनमें से एक दूसरा नहीं हो सकता, यह सिद्ध है। अतः उनके गुणों का तादात्म्य (इतरेतरभाव) और भी अधिकअ नुपपन्न है। इस प्रकार अस्मत् (अहं) प्रत्यय के विषय चैतन्यस्वरूप विषयी तथा युष्मत् (त्वम्) प्रत्यय के विषय जडदेह और उसके धर्मों का आरोप और विपरीततः विषय में विषयी का तथा उसके धर्मों का आरोप परस्पर नहीं होना चाहिये परंतु यदि है तो अवश्य ही उसे मिथ्या (अध्यास) कहना चाहिये। फिर भी मिथ्याज्ञान के कारण अथवा अविवेकतया लोक में अत्यन्त विभिन्न धर्मियों तथा उनके धर्मों का परस्पर एक दूसरे पर आरोप, मैं यह मैं अथवा मेरा यह के रूप में, सत्यासत्य के मिश्रण के आधार पर हमारा स्वाभाविक व्यवहार होता है।

अध्यास किसे कहते है? इसका उत्तर है—स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट का अन्य में अवभास या प्रतीति या विश्वास। कुछ लोग अध्यास की परिभाषा एक वस्तु में दूसरे वस्तु के गुणों के आरोप के रूप में करते हैं। दूसरे लोग यह कहते हैं कि अध्यस्त और अधिष्ठान के भेद को न ग्रहण करना भ्रम है। तीसरा मत यह है कि जहाँ एक का दूसरे पर आरोप होता है वहां अधिष्ठान में विरुद्ध धर्म की कल्पना ही

तथा च लोकेऽनुभवः—"शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवद्" इति।

कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति। युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि।

उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्। अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः।

तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता "अविद्या" इति मन्यन्ते, तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्रैवं सति यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा वा अणुमात्रेणापि स न संबध्यते। तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिकाः वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।

अध्यास हैं। इन सभी परिभाषाओं में समानता यह है कि सब में अन्य में अन्य धर्म की प्रतीति मान्य है। लोक व्यवहार में भी हमारा अनुभव है कि सीप चांदी के समान अवभासित होती है तथा एक चन्द्रमा दो के समान दिखाई पड़ता है। प्रश्न होता है कि प्रत्यगात्मा जो अविषय है उसमें विषय और उसके गुणों का अध्यास कैसे होता है ? अध्यास तो प्रत्यक्ष के विषय का प्रत्यक्ष के विषय में होता है और प्रत्यगात्मा विषयत्व की प्रतीति से रहित है। उत्तर यह है कि प्रत्यगात्मा भी अस्मत् प्रत्यय का विषय होने के कारण सर्वथा अविषय नहीं है और वह प्रत्यक्ष भले न हो अपरोक्ष तो है ही। यह कोई सामान्य नियम भी नहीं है कि प्रत्यक्ष के विषय में ही प्रत्यक्ष के विषय का अध्यास हो, क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाश में अविवेकी लोग मलिनतादि का आरोप करते हैं।

इस प्रकार प्रत्यगात्मा में अनात्मा का अध्यास असंभव नहीं है। अतः ऊपर दिये गये लक्षण वाले अध्यास को पंडित लोग अविद्या मानते हैं और विवेक द्वारा वस्तु के स्वरूप के ज्ञान को विद्या कहते हैं। अध्यास के अविद्याजन्य होनेके कारण अध्यस्त के गुणदोष का अणुमात्र भी प्रभाव अधिष्ठान पर नहीं होता है।

अविद्याजन्य इस आत्मा-अनात्मा विषयक अध्यास के ही आधार पर सभी लौकिक वैदिक प्रमाता प्रमाण प्रमेय व्यवहार संभव होते हैं और उसी के आधार पर लौकिक या वैदिक विधिनिषेध या मोक्षविषयक शास्त्र अवलंबित है। शंका होती है कि प्रत्यक्षादि

कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति ? उच्यते— देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न हीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। चाधिष्ठानमन्तरेण इन्द्रियाणां व्यापारः संभवति। न च अनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति आत्मनोऽसंगस्य प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति।

पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति, शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते; यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य "मां हन्तुमयमिच्छति" इति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रति अभिमुखीभवन्ति; एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रवर्तन्ते। अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेय व्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्ध

प्रमाण और शास्त्र अविद्याजन्य आधार पर कैसे अवलम्बित हो सकते हैं ? उत्तर यह है कि आत्मा जो अहं मम आदि अभिमान से शून्य हैप्रमाता नहीं हो सकता, अतः उसमें प्रमाण की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती है। शरीर और इन्द्रिय विषयक अहं एवं मम की प्रतीति के बिना कोई प्रमाता नहीं हो सकता, क्योंकि उनके बिना इन्द्रियों का व्यवहार संभव नहीं है और इन्द्रियों के उपयोग के बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यापार संभव नहीं है। जो शरीर आत्मा में अध्यस्त नहीं है उसमें कोई व्यापार नहीं हो सकता है। उपर्युक्त देहाध्यास के बिना असंग आत्मा में प्रमातृत्व नहीं हो सकता है और प्रमातृत्व के बिना प्रमाणों की प्रवृति नहीं हो सकती है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण, शास्त्र आदि अविद्या के ही आश्रित हैं। इस विषय में मनुष्य की पशुओं के साथ समानता है (भेद नहीं है) क्योंकि पशु भी श्रोत्रादि के द्वारा अनुकूल प्रतिकूल विषय का ज्ञान होने पर तदनुसार व्यवहार करते हैं। हाथ में डंडा लिये हुए पुरुष को देख कर वह मुझे मारने आ रहा है ऐसे भाव से पशु भागने लगते हैं और यदि कोई हाथ में हरी घास लेकर आता है तो उसकी ओर जाते हैं। इसी प्रकार लोक में भी देखते हैं कि हाथ में तलवार लिये हुए ललकारते हुए क्रूर दृष्टि वाले बलवान व्यक्ति को देखकर विवेकी लोग वहाँ से विमुख हो जाते हैं तथा उसके विपरीत स्वरूप वाले व्यक्ति के प्रति अभिमुख होते हैं। अतः प्रमाण प्रमेय के संबंध में मनुष्य और पशु में भेद नहीं है। और यह सर्वविदित है कि पशु का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेकपूर्ण है।

एवं अविवेकपूर्वकः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।

शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वा आत्मनः परलोकसम्बन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम्, अशनायाद्यतीतम्, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदम्, असंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगाद्, अधिकारविरोधाच्च। प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथा हि— "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते।

अध्यासो नाम "अतस्मिंस्तद्बुद्धिः" इत्यवोचाम। तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषुवा "अहमेव "विकलः सकलो वा" इति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति, तथा देहधर्मान् "स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम् गौरोऽहम्, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि च", इति; तथेन्द्रियधर्मान् "मूक काणः, क्लीबो, बधिरोऽन्धोऽहम्" इति; तथान्तःकरणधर्मान् कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन् एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि

इस प्रकार की समानता के कारण पुरुष के प्रत्यक्षादि व्यवहार को पशु के समान मानना ही ठीक है। कर्मकाण्डीय शास्त्रीय व्यवहार में आत्मा का स्वर्गादि लोकों से संबंध होने के कारण उसे शरीर से भिन्न रूप में जानने की अपेक्षा होती है किंतु उसमें वेदान्तवेद्य क्षुधादि से परे भेद से रहित असंसारी आत्मा के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। कर्मकाण्ड में आत्मतत्व का उपयोग नही है और उसका उसमें अधिकार नहीं है। आत्मज्ञान के पूर्व अज्ञानी पुरुष को दृष्टि में रखकर ही शास्त्र का व्यवहार होता है अर्थात् शास्त्र व्यवहार अविद्या का ही आश्रय लेता है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण यज्ञ करे इत्यादि शास्त्र वाक्य आत्मा में ब्राह्मणत्व आदि का अध्यास करके ही प्रवृत्त हो सकते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि अतद में तद बुद्धि ही अध्यास है। जैसे हम बाह्यवस्तुओं का आत्मा में आरोप करके ही स्त्री पुत्रादि के गुणदोष को अपने में गुणदोष मानते हैं। मैं मोटा हूँ या दुर्बल हूँ, गोरा हूँ, खड़ा हूँ, जाता हूँ, लांघता हूँ, इत्यादि में देह के धर्मों का अध्यास होता है और मैं काना हूँ, या बधिर हूँ या अंधा हूँ या नपुंसक हूँ, इस प्रकार इन्द्रियों का अध्यास होता है। उसी तरह इच्छा संकल्प, संशय, निश्चय आदि अंतकरण के धर्मों का अध्यास होता है। इस

प्रत्यगात्मन्यध्यस्त तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति।

एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां; तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्याम।

तरह अतःकरण की समस्त वृत्तियों का साक्षीरूप आत्मा में अध्यास तथा उसके विपरीत साक्षी का अंतःकरण आदि में अध्यास करने से ही यह अनादि असीम नैसर्गिक मिथ्या प्रत्यय रूप कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप व्यवहार संभव है। ऐसा सबको प्रत्यक्ष ही है।

इस अनर्थ के कारण रूप अविद्या के निवारण के लिये तथा ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान के लिये ही उपनिषद् वाक्यों का प्रारम्भ होता है। वेदान्द वाक्यों का जो यह प्रयोजन है उसे हम उसी प्रकार इस शारीरक मीमांसा में प्रस्तुत करेंगे।

प्रथम अध्याय प्रथम पाद प्रथम सूत्र

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥ १ ॥ १ ॥

तत्राथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् । मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् । अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दःश्रुत्या मंगलप्रयोजनो भवति । पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलतः आनन्तर्याव्यतिरेकात् । सति च आनन्तर्यार्थत्वे, यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम् । स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम् ।

नन्विह कर्मावबोधानण्तर्यं विशेषः । न; धर्मजिज्ञासायाः प्रागपि अधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः । यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः; क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथेह क्रमो विवक्षितः; शेषशेषित्वे अधिकृताधिकारे वा प्रमाणास ावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञानयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च । अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम्,

जिस विषय की हम व्याख्या करना चाहते हैं उस वेदांत मीमांसा शास्त्र का यह प्रथम सूत्र है—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (अथ अतः ब्रह्मजिज्ञासा) ।

यहां अथ शब्द आनन्तर्य द्योतक है न कि आरम्भ द्योतक, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा का आरम्भ नहीं किया जा सकता है। मंगल अर्थ में अथ का वाक्य में मेल नहीं बैठता है। अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने से भी अथ मंगलसूचक हो जाता है। फल की दृष्टि से पूर्व प्रकृतापेक्षा का आनन्तर्य से भेद नहीं है। अतः यहाँ यह प्रश्न है कि जिस प्रकार धर्मजिज्ञासा के पहले वेदाध्ययन की अपेक्षा होती है उसीं प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा के पहले किस वस्तु की अपेक्षा होती है ? जहां तक स्वाध्याय-अध्ययन को बात है वह तो धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा दोनों में समान है। अतः यह ब्रह्मजिज्ञासा के पूर्ववर्ती के रूप में अपेक्षित नहीं है। यदि कोई यह कहे कि ब्रह्मजिज्ञासा का पूर्ववर्ती कर्मज्ञान है तो वह ठीक नहीं है क्योंकि कर्मज्ञान के बिना भी यदि कोई व्यक्ति वेदांत पढ़ा है तो उसे ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। यज्ञ के पशु के विभिन्न अंगों के छेदन के विषय में एक क्रम-विशेष का उल्लेख है परन्तु कर्मज्ञान और ब्रह्मजिज्ञासा के क्रम का कोई नियम नहीं है, धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा में अंगांगिभाव के लिये प्रमाण नहीं है और न तो इसके लिये प्रमाण है कि कर्मज्ञानीं का हीं अधिकार ब्रह्मजिज्ञासा में है। धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा में फल का भी भेद है। धर्मज्ञान का फल अभ्युदय

तच्चानुष्ठानापेक्षम्, निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानम्, न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणम्, सा स्वविषये नियुंजाना एव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येन केवलम्; अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथा अक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्।

तस्मात् किमपि वक्तव्यं, यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा उपदिश्यत इति। उच्यते— नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं चेति। तेषु हि सत्सु, प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च; न विपर्यये। तस्माद् अथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते॥

है और यह अभ्युदय धर्मानुष्ठान पर निर्भर करता है। ब्रह्मज्ञान का फल मोक्ष है और उसके लिये ब्रह्मज्ञान के बाद किसी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। धर्मजिज्ञासा का फल भविष्य में होने वाला होता है, ज्ञानकाल में नहीं होता क्योंकि वह पुरुष-कर्तृत्व के ऊपर अवलंबित है। परंतु ब्रह्मजिज्ञासा का विषय ब्रह्म भूतवस्तु और नित्य होने के कारण पुरुषकर्तृत्व के आधीन नहीं है। दोनों जिज्ञासाओं में शास्त्र के प्रवृत्ति के स्वरूप में भी भेद है। विधि श्रुति अपने विषय धर्म का लक्षण का ज्ञान कराते हुए स्वविषय में हमको नियुक्त करती है। परंतु ब्रह्मविषयक श्रुति केवल ब्रह्म का बोध कराती है न कि पुरुष का नियोजन करती है क्योंकि श्रुति से ज्ञान होता है, वह पुरुष को ज्ञान के प्रति नियुक्त नहीं करती वैसे ही जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान में इद्रियाँ हमको नियुक्त नहीं करती हैं।

तो वह क्या वस्तु है जिसके उपरांत ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश होता है? उत्तर है—जिज्ञासु में चार गुण होने चाहिये—नित्यानित्य वस्तु विवेक, शमदमादि साधन-संपत्, लौकिक पारलौकिक फलों के भोग में अनासक्ति तथा मोक्ष की अभिलाषा। इन गुणों के होने पर धर्मजिज्ञासा के पहले भी और बाद में भी ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान हो सकता है, उनके अभाव में नहीं। अतः अथ शब्द का अर्थ है कि उपर्युक्त साधनसंपत् के अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा होनी चाहिये। अथशब्द से यही आनन्तर्य दिखाना अभीष्ट है।

अतः शब्द कारणद्योतक है। श्रुतिस्पष्ट रूप से कहती है (जैसे लोक में कर्मफल का क्षय होता है वैसे ही परलोक में भी पुण्य के फल का क्षय होता है छा० ८।१।६)

अतः शब्दो हेत्वर्थः । यस्माद्वेद एव अग्निहोत्रादीनां श्रेयः साधनानामनित्यफलतां दर्शयति "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छां० ८।१।६) इत्यादिः, तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० २।१।१) इत्यादिः; तस्माद् यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या ।

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणम् "जन्माद्यस्य यतः" इति । अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशंकितव्यम । ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे; जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः; जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च ।

ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते; संबन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् । एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य, सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात् ।

कि अग्निहोत्रादि जो अभ्युदय के साधन हैं उनका फल अनित्य है और श्रुति यह भी स्पष्ट कहती है कि मनुष्य का परम पुरुषार्थ ब्रह्मज्ञान है (ब्रह्मविदाप्नोति परम्—तै० आ० २।१।१) । तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त साधनसंपत् पर्याप्त रूप से प्राप्त होने के अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये । अतः शब्द इसी हेतु की ओर संकेत करता है ।

ब्रह्मजिज्ञासा का अर्थ है ब्रह्म की जिज्ञासा । अगले सूत्र (जन्माद्यस्य यतः) में कहे जाने वाला लक्षण युक्त ब्रह्म है । अतः यहां ब्रह्मशब्द का जाति आदि अन्य अर्थ अभीष्ट नहीं है[1] । जिज्ञासा सदा जिज्ञास्य के प्रति होती है और यहां ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ जिज्ञास्य नहीं है । अतः ब्रह्मणः कर्म में षष्ठी है शेष में नहीं[2] । पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि यदि ब्रह्मणः को शेषषष्ठी अर्थ में लिया जाय तो भी ब्रह्मजिज्ञास्य हो सकता है क्योंकि सामान्य के अंतर्गत विशेष निहित है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार घुमा-फिराकर परोक्षरूप से ब्रह्म को जिज्ञास्य बनाने से क्या लाभ ? अर्थात् यह प्रयास व्यर्थ है । पूर्वपक्षी कहता है—नहीं, व्यर्थ नहीं है क्योंकि

---

१. ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे वेद, तत्त्व, तप, ब्राह्मण प्रजापति, आदि ।

२. कर्मषष्ठी का अर्थ है ब्रह्म के स्वरूपविषयक जिज्ञासा और शेषषष्ठी का अर्थ है ब्रह्मसंबंधिनी जिज्ञासा अर्थात् ब्रह्म के स्वरूपप्रमाण आदि संबंधी जिज्ञासा । भाष्यकार शेषषष्ठी का निराकरण करते हैं ।

न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेत्, न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते, यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रम्ह जिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येव, इति न पृथक् सूत्रयितव्यानि। यथा "राजासौ गच्छति" इत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत्। श्रुत्यनुगमाच्च। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्याद्याः श्रुतयः "तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रम्ह" इति प्रत्यक्षमेव ब्रम्हणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद्ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म, फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्॥

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्; यदि प्रसिद्धं, न जिज्ञासितव्यम्,

उससे ब्रह्मसंबंधी सभी विषयों का ग्रहण हो जाता है। उत्तर—प्रधान को स्वीकार करने से उसके आश्रित सब विषयों का ग्रहण हो जाता है। ज्ञान का लक्ष्य ब्रह्म होने से वही प्रधान है। जिन पदार्थों के बिना ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकते, वे सब ब्रह्म को ज्ञान का प्रधान लक्ष्य मानने से जिज्ञासा के अन्तर्गत आ जाते है, उनको अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। जैसे राजा जाता है, कहने से यह अर्थ निकल जाता है कि राजा सपरिवार जाता है। श्रुति के अनुगमन से भी कर्मषष्ठी का ही अर्थ निकलता है क्योंकि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" और "तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" आदि श्रुतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म ही जिज्ञास्य है। यह सब सूत्र के अनुकूल है। अतः ब्रह्मणः कर्मषष्ठी के अर्थ में ही है।

जानने की इच्छा जिज्ञासा है। सन् प्रत्यय से यह अर्थ निकलता है कि ज्ञान का अर्थ अनुभूतिपर्यन्त ज्ञान से है क्योंकि इच्छा का विषय फल ही है। ब्रह्म ज्ञान या प्रमाण से ही जानने योग्य हैं। ब्रह्मानुभूति ही पुरुषार्थ है क्योंकि उससे संसार-बीजरूप अविद्या आदि अनर्थों का नाश होता है। इसीसे ब्रह्म की जिज्ञासा करना पुरुषार्थ है।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्मज्ञात है या अज्ञात ? यदि ज्ञात है तो उसके विषय में जिज्ञासा नहीं होनी चाहिये और यदि अज्ञात है तो उसके विषय में जिज्ञासा ही

अथाप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति । उच्यते—अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं; सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम् । ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् । सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धि । सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, य नाहमस्मीति । यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्; सर्वो लोकः "नाहमस्मि" इति प्रतीयात् । आत्मा च ब्रह्म ॥

यदि तर्हि लोके ब्रह्म आत्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम् । न तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः । देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लौकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः । इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे । मन इत्यन्ये । विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके । शून्यमित्यपरे । अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्ता इत्यपरे । भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके । अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित् । आत्मा स भोक्तुरित्यपरे ।

एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः । तत्रविचार्यं

नहीं हो सकती हैं ? उत्तर—ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है। ब्रह्म शब्द से ही नित्यशुद्ध आदि अर्थों का बोध होता है क्योंकि बृहधातु के अनुकूल यही अर्थ पड़ता है। सबकी आत्मास्वरूप ब्रह्म सबको ज्ञात है क्योंकि सब कोई अपना अस्तित्व स्वीकार करता हैं, कोई नहीं कहता कि मैं नहीं हुं। यदि आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान न होता तो सब कोई "मैं नहीं हूं" ऐसा अनुभव करता। और आत्मा ही ब्रह्म है।

यदि आत्मारूप से लोक में ब्रह्मज्ञात हैं तो फिर प्रश्न होता है कि वह जिज्ञास्य कैसे ? यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म (आत्मा) विषयक विशेष ज्ञान के सम्बन्ध में विवाद है। लोकायत और साधारण व्यक्ति चैतन्यविशिष्ट देहमात्र को आत्मा मानते हैं। दूसरे लोग चेतन इन्द्रियों को आत्मा कहते हैं। अन्य लोग मनको आत्मा मानते हैं। कोई-कोई क्षणिक विज्ञान को आत्मा कहते हैं। कुछ के मत में आत्मा शून्य है। और कुछ के विचार में देहादिसे भिन्न कर्त्ताभोक्ता आत्मा है (न्याय)। कुछ के मत में आत्मा केवल भोक्ता है कर्त्ता नहीं हैं (सांख्य), कुछ लोग जीवात्मा से भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर मानते हैं। कोई-कोई यह मानते है कि ईश्वर भोक्ता जीव की आत्मा हैं। इस प्रकार तर्क और श्रुति के आधार पर अनेक विवाद

यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येत, अनर्थं च इयात् । तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ।

हैं। इन सब पर बिना उचित विचार किये जिस किसी मत को मानने वाला मोक्ष से वंचित होगा और अनर्थ को प्राप्त होगा। अतः ब्रह्मजिज्ञासा का अर्थ है श्रुत्यनुकूलतर्क से मोक्ष प्रयोजन वाले वेदांत वाक्यों की मीमांसा करना।

———

अथ द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम्

ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्म इत्यत आह भगवान्सूत्रकार :—

जन्माद्यस्य यतः ॥ १ ॥ १ ॥ २ ॥

जन्म उत्पत्तिः आदिः अस्य-इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः । जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं । वस्तुवृत्तापेक्ष च । श्रुतिनिर्देशस्तावत्-"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति, अस्मिन् वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात् । अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः । षष्ठी जन्मादिधर्मसंबन्धार्था । यत इति कारणनिर्देशः ।

अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, "तद्ब्रह्म" इति वाक्यशेषः ।

अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम् । यास्कपरिपठितानां तु "जायतेऽस्ति" इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः

द्वितीय सूत्र "जन्माद्यस्य यतः"

अब तक यह बताया गया कि ब्रह्मजिज्ञासितव्य है । अब प्रश्न है कि वह ब्रह्म क्या है ? इसीके उत्तर में सूत्र कहता है कि ब्रह्म वह है जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय कहा गया है । यहाँ जन्मादि में तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास है । अतः जन्म से जन्म, स्थिति, भंग तीनों का बोध है । श्रुतिनिर्देश से तथा वस्तु के स्वरूप दोनों से जगत् के जन्म आदि की अपेक्षा है । श्रुति कहती है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' । स्वभावतः भी जिस वस्तु का जन्म है उसकी स्थिति और लय भी है । अस्य का अर्थ प्रत्यक्षादि से सिद्ध इदम् (जगत्) है । षष्ठी विभक्ति से जन्मादि का सम्बन्ध जगत् से बताया गया है । यतः शब्द कारणबोधक है । यह जगत् जो नामरूप के रूप में प्रकट है और जिसमें अनेक कर्त्ता-भोक्ता हैं तथा जो देश काल कार्य कर्मफल आदि नियमों से नियमित है और जिसकी रचना मन के द्वारा भी अचिन्त्य है—ऐसे जगत् के जन्म स्थिति लय का कारण सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान ब्रह्म है । अन्य भावविकारों (वृद्धि परिणाम और क्षय आदि) का भी समावेश इन तीनों के अन्तर्गत है । यास्कद्वारा दिये गये जायते अस्ति आदि का यहां उल्लेख नहीं

स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्या-शंक्येत, तन्मा शङ्कि इति या उत्पत्तिर्ब्रह्मणः तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च, त एव गृह्यन्ते ।

न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वा अन्यतः प्रधाना-दचेतनात् अणुभ्यो वा अभावाद्वा संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम् । न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात् । एतदेवानुमानं संसारिव्यति-रिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वरकारणवादिनः ।

नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे; न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सू-त्राणाम् । वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते । वाक्यार्थविचारणाध्यवसान-निर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता । सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्यविरोधि प्रमाणं भवत् न निवार्यते श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याप्यभ्युपेतत्वात् । तथा हि— "श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृह० २।४।५) इति श्रुति पण्डितो" मेधावी गान्धारानेवोपसं-

है क्योंकि उससे श्रुति नहीं निरुक्त का प्रसंग आ जायेगा और निरुक्त में आदिकारण की शिक्षा नहीं है । जायते अस्ति आदि विकार तो सृष्टि के उपरान्त भी जगत् में पाये जाते हैं । अतः सूत्र का अर्थ है कि उत्पत्ति ब्रह्म से है और उसी में जगत् की स्थिति और लय भी है । इस प्रकार के विशेषणों से युक्त जगत् का कारण सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान आदि विशेषणों से युक्त ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता है—न तो प्रकृति, न अभाव और न तो कोई संसारी जीव । यह यह सृष्टि स्वभावतः भी नहीं है क्योंकि यहाँ विशिष्ट देशकालनिमित्त की अपेक्षा है । नैयायिक लोग संसारी जीव से भिन्न ईश्वर का अनुमान जगत् के कारण के रूप में करते हैं । तो क्या इस सूत्र को एक अनुमान के रूप में लिया जाय ? ऐसा करना ठीक नहीं है क्योंकि सूत्रों का तात्पर्य वेदान्तवाक्य पुष्पों को एकसूत्र में पिरोना है (अनु-मान करना नहीं है) । सूत्रों में वास्तव में वेदान्तवाक्यों का उद्धरण और विचार है । वेदान्तवाक्यों की विचारणा के उपरान्त ब्रह्मानुभूति होती है, अन्य किसी प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान से नहीं । यद्यपि वेदान्तवाक्य ही जगत् के जन्मादि का कारण बताते हैं फिर भी अनुमान जहाँ तक वह वेदान्त वाक्यों के अनुकूल है (अविरोधी है) वहाँ तक उसे श्रुति अर्थ निश्चय में स्वीकार किया जाता है, उसका सर्वथा निषेध नहीं है । क्योंकि शास्त्र में अनुमान को सहायक के रूप में स्वीकार किया गया है । श्रोतव्यः मन्तव्यः स्पष्ट श्रुतिवाक्य है । यह भी कहा है कि जिस प्रकार

पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद'' (छान्दोग्य ६।१४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्य-मात्मनो दर्शयति।

न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्; किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तु विषय-त्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म; कर्म; यथा अश्वेन गच्छति, पद्भ्याम्, अन्यथा वा, न वा गच्छतीति तथा "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"; "उदिते जुहोति" "अनुदिते जुहोति" इति। विधिप्रतिषेधाश्च अत्र अर्थवन्त स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च। न तु वस्तु 'एवम्' "नैवम्", "अस्ति", "नास्ति" इति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुध्यपेक्षम्। किं तर्हि ? वस्तुतन्त्रमेव तत्। न हि स्थाणावेकस्मिन् स्थाणुर्वा, पुरुषोऽन्यो वा इति तत्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो

मेधावी पंडित (किसी अन्य द्वारा शिक्षित होने पर) गंधार देश को पहुँच जाता है वैसे ही आचार्यवान् व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रुति पुरुष बुद्धि को सहायक मानती है।

धर्मजिज्ञासा के समान केवल श्रुति ब्रह्मजिज्ञासा में प्रमाण नहीं है किन्तु श्रुति आदि के अतिरिक्त अनुभवादि भी यथा संभव उसमें प्रमाण हैं क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान भूतवस्तु के विषय में है और ब्रह्मसाक्षात्कार उसका पर्यवसान है। धर्म या कर्तव्य के विषय में अनुभव की अपेक्षा नहीं है। वहाँ केवल श्रुति ही आधार है। इसके अतिरिक्त धर्म की प्राप्ति पुरुष के अधीन है। पुरुष लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के कर्म करने, न करने या अन्यथा करने को स्वतंत्र है। जैसे घोड़े से जाता है, पैदल जाता है, या अन्य प्रकार से जाता है या नहीं जाता है। वैसे ही अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण करे, अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण न करे, सूर्योदय पर अग्निहोत्र करे या सूर्योदय के पूर्व अग्निहोत्र करे। यहाँ पर विधि निषेध विकल्प उत्सर्ग आदि सभी सार्थक है। किन्तु वस्तु के विषय में यह विकल्प नहीं हो सकता कि ऐसी है या ऐसी नहीं क्योंकि विकल्प तो पुरुष की बुद्धि द्वारा होता है। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान मनुष्य की बुद्धि सापेक्ष नहीं है। वह तो केवल वस्तुतन्त्र है। कोई स्थाणु-स्थाणु है, पुरुष है या अन्य है, यह यथार्थ ज्ञान नहीं है। यहाँ

वा इति मिथ्याज्ञानम्; स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात् । एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम् ।

तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात् । ननु भूतवस्तुविषयत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणा अनर्थिकैव प्राप्ता । न, इन्द्रियाविषयत्वेन संबन्धाग्रहणात् । स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि । सति हि इन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्येत । कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा संबद्धम्, किमन्येन केनचिद्वा संबद्धम्, इति न शक्यं निश्चेतुम् । तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम् । किं तर्हि ? वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम् । किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत् सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् ? "भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति" इत्युपक्रम्याह—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते; येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति; तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" इति । तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते; आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इति । अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाणि उदाहर्तव्यानि ।

'पुरुष या अन्य कुछ' मिथ्याज्ञान है । यह स्थाणु है यही तत्त्वज्ञान है, वस्तुतन्त्र होने के कारण । अतः भूतवस्तु का ज्ञान केवल वस्तुतन्त्र है ।

इस प्रकार ब्रह्मज्ञान भी वस्तुतन्त्र है क्योंकि ब्रह्म भूतवस्तु है । पूर्वपक्षी कहता है—ब्रह्म भूतवस्तु है अतः यह अन्य प्रमाणों का भी विषय हो सकता है और तब वेदांत वाक्य-विचारणा व्यर्थ हो जायगी । उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतः अन्य प्रमाणों से ब्रह्म और जगत् के कारण कार्यरूप संबंध का ग्रहण नहीं हो सकता । इन्द्रियों से केवल कार्य (जगत्) उपलब्ध है, उस कार्य का संबंध ब्रह्म से है या अन्य किसी तत्त्व से यह इन्द्रियों से प्राप्य नहीं है । अतः "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र अनुमान नहीं है बल्कि वेदांतवाक्यों के अर्थ प्रदर्शन के लिये है । वे वेदांतवाक्य क्या हैं जिनका प्रदर्शन सूत्र का तात्पर्य है ? भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और कहा, भगवन्, मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये । इसके उत्तर में श्रुति कहती है कि जिससे ये जीव जन्म पाते हैं जिससे ये जीते हैं और अंत में जिसमें ये लय हो जाते हैं, उसकी जिज्ञासा कर वही ब्रह्म है । इसके बाद निर्णय वाक्य आता है, आनन्द से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, आनंद से जीते हैं और आनंद में ही लय हो जाते हैं । कारणरूप नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सर्वज्ञ ब्रह्म के विषय में अन्य वेदांत वाक्य भी उद्धृत किये जा सकते हैं ।

अथ तृतीयं शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तम्; तदेव द्रढयन्नाह-

शास्त्रयोनित्वात् ॥ १ ॥ १ ॥ ॥ ३ ॥

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञ-दन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेः, ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके । किमु वक्तव्यम्—अनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्र-विभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्य अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिः-श्वासवत् यस्मान्महतो भूतात् योनेः संभवः—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्य-दृग्वेदः" (बृह० २।४।१०) इत्यादिश्रुतेः—तस्य महतो भूतस्य निरतिशयत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति । इति प्रथमवर्णकम् ।

अथ वा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणस्य ब्रह्मणो यथावत्स्व-रूपाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभि-

तृतीय सूत्र—शास्त्रयोनित्वात्

जगत् का कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है इसी को तीसरे सूत्र में स्पष्ट करते हैं। अनेक विद्याओं के संस्थान महान् ऋग्वेद जो सर्व अर्थों को दीपक के समान प्रकाशित करता है और जो सर्वज्ञ के समान हैं उसका कारण ब्रह्म है। ऋग्वेदादि के सदृश सर्वगुणसम्पन्न शास्त्र का कारण सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता हैं। यह लोक में प्रसिद्ध है कि शास्त्र के रचयिता जैसे पाणिनी आदि के ज्ञान का अंशमात्र शास्त्र होता है और रचयिता शास्त्र से अधिक ज्ञानवान होता है। अतः उस महान् ब्रह्म के सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व केबारे में क्या कहा जा सकता है जिसकी लीला और निःश्वासमात्र से अनायास ही अनेक शाखावाला, देव, मनुष्य, पशु, वर्ण आश्रम आदि विभाग का हेतु और सर्वज्ञान के भाण्डार ऋग्वेदादि शास्त्रों की उत्पत्ति हो जाती है। श्रुति है—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः"।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि उपरोक्त ऋग्वेदादि शास्त्र इस ब्रह्म के स्वरूप ज्ञान के हेतु (योनि) हैं। अभिप्राय यह है कि शास्त्र से ही यह ज्ञात होता है कि जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म है। पूर्व सूत्र में—यतो वा इमानि

प्रायः । शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि । किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्; यावता पूर्वसूत्र एव एवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम् ? उच्यते—तत्र पूर्वं सूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशंकां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते "शास्त्रयोनित्वाद्" इति ।

भूतानि जायन्ते आदि का उद्धरण है। प्रश्न उठता है कि जब पूर्वसूत्र में ही शास्त्रवचन का उद्धरण हो गया है तो फिर से शास्त्रयोनित्वात् कहने का क्या तात्पर्य है ? उत्तर है कि पूर्वसूत्र के शब्दों में शास्त्रशब्द स्पष्टत: नहीं आया है। कोई यह शंका न करे कि जन्माद्यस्य यतः अनुमान है इसलिये फिर से शास्त्रयोनित्वात् कहा गया है।

———

अथ चतुर्थं समन्वयाधिकरणम्

कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (जैं० सू० १।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्। अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्, अक्रियार्थत्वात्, कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम्, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा। न हि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति। प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः, तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात्। अत एव "सोऽरोदीत्" इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (जैं० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम्। मन्त्राणां च "इषे त्वा" (यजुर्वेदे १।१।१) इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायकत्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम्। न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टा उपपन्ना वा। न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः। तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृदेवतादिस्वरूपप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ

भाष्यकार की भूमिका—यह कैसे कहा जाता है कि शास्त्र ब्रह्मज्ञान का स्रोत है जब जैमिनि ने स्पष्ट कहा है कि क्रिया से भिन्न भूतवस्तु-प्रतिपादक वेदवाक्य अनर्थक हैं ? इससे तो जान पड़ता हैं कि शास्त्र क्रियापरक हैं और वेदान्त वाक्य क्रियापरक न होने से निरर्थक हैं। अथवा यह हो सकता है कि देवता कर्त्ता आदि को बताने वाले वेदान्तवाक्य क्रियाविधि के अंग रूप हैं या यह भी हो सकता है कि वे वाक्य उपासना आदि अन्य क्रियाओं का विधान करते हैं। सिद्धवस्तु का प्रतिपादन वेदान्त-वाक्यों का प्रयोजन नहीं हो सकता क्योंकि सिद्धवस्तु तो प्रत्यक्षादि का विषय हो सकती है। सिद्धवस्तु पुरुषार्थ का विषय नहीं हो सकती क्योंकि उसके विषय में हेयोपादेय का प्रश्न ही नहीं उठता। सोऽरोदीत् आदि वेदवाक्य अनर्थक न हों इसलिए अर्थवाद के रूप में उनकी सार्थकता दिखाई जाती हैं (विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः)। इसी तरह इषेत्वा इत्यादि मन्त्र क्रिया और उसके साधनों से सम्बन्धित होने से सार्थक होते हैं। बिना विधिवाक्यों के साथ सम्बन्धित हुए वेदवाक्यों की सार्थकता न मिलती है न मिल सकती है। भूतवस्तु के स्वरूप के विषय में विधि नहीं हो सकती है क्योंकि विधि का प्रयोजन क्रिया से है। अतः कर्ता देवता आदि के स्वरूप का ज्ञान कराने वाले वेदान्तवाक्य विधि के अङ्ग हैं। यदि प्रकरण में न होने के भय

प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम् । तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते ।

तत्तु समन्वयात् ॥ १ ॥ १ ॥ ४ ॥

तुशब्द; पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तद्ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलय-कारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते । कथम् ? समन्वयात् । सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि—"सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवा-द्वितीयम्" (छान्दोग्य ६।२।१), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत० उप० १।१।१), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" (बृह० २।५।१९) "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" (मुण्ड० २।२।११) इत्यादीनि । न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमाने अर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्य-श्रुतकल्पनाप्रसंगात् । न च तेषां कर्तृदेवतादिस्वरूपप्रतिपादनपरता अवसीयते, "तत्केन कं पश्येत्" (बृह० २।४।१३) इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः ।

न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः, "तत्त्वमसि"

से यह स्वीकार न भी किया जाय तो उनको वेदांतवाक्यों में उपलब्ध उपासना कर्मपरक समझना चाहिये । अत: ऐसी शंका की जा सकती है कि ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण नहीं है । इस शंका को ही ध्यान में रखकर "तत्तु समन्वयात्" नामक सूत्र है ।

सूत्र में तु शब्द का प्रयोग उपरोक्त पूर्वपक्ष की शंका के निराकरण का द्योतक है । क्योंकि यह कैसे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान तथा जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म शास्त्र वाक्य से ही ज्ञात होता है ? इस प्रश्न का उत्तर समन्वय शब्द से दिया गया है । "सदेव सोम्यदमग्र आसीत्", "एकमेवाद्वितीयम्", "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्", "तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यम्", "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू ", "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" इत्यादि सभी वेदान्त वाक्यों के समन्वय से यही तात्पर्य निकलता है । वेदान्तवाक्यों से समन्वय का निश्चित अर्थ जान लेने के उपरान्त ब्रह्म के स्वरूप के विषय में अन्य कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से श्रुत हानि और अश्रुत कल्पना होगी । यह भी नहीं कह सकते कि उनका तात्पर्य कर्त्ता का स्वरूप बताना है, क्योंकि श्रुतिवाक्य क्रिया, कारक, फल, आदि का निराकरण करनेवाले हैं, जैसे "तत् केन कं पश्येत्" । भूतवस्तु-स्वरूप होने पर भी ब्रह्म, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि "तत्त्वमसि" (अर्थात् आत्मा ब्रह्म है)

इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात् । यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः, हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः । देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः । न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः । न हि एकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत । यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टम्, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम् । न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्षेत । तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम् ।

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते, यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिविशेषतया

यह ज्ञान शास्त्र से ही प्राप्त हो सकता है। यह शंका कि हेयोपादेय रहित होने से ब्रह्मविषयक उपदेश सार्थक नहीं है व्यर्थ है, क्योंकि ब्रह्मात्म ज्ञान से सर्वक्लेशनिवृत्तिरूपपुरुषार्थ की सिद्धि होती है। यदि देवतादिविषयक वाक्यों को उपासनापरक मान भी लिया जाय तो कोई विरोध नहीं है, किन्तु यह बात ब्रह्म के विषय में लागू नहीं होती; अर्थात् ब्रह्म उपासनाविधि का अङ्ग नहीं हो सकता। क्योंकि एकत्व की प्राप्ति हो जाने पर हेयोपादेय शून्यता तथा क्रियाकारक आदि के द्वैत का नाश हो जाता है। एकत्व ज्ञान हो जाने के उपरान्त पुनः द्वैतज्ञान सम्भव नहीं है, जिससे उपासना विधि आदि हो। यद्यपि अन्यत्र वेदवाक्यों का प्रामाण्य जबतक विधि से सम्बन्ध न हो तबतक नहीं होता फिर भी आत्मज्ञान का पर्यवसान आत्मसाक्षात्कार नामक फल में हो जाने से, आत्मविषयक ज्ञान देने वाले श्रुति के प्रामाण्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शास्त्र का प्रामाण्य अनुमानजन्य नहीं है, अतः उसके लिये विभिन्न दृष्टान्तों की अपेक्षा नहीं होतीं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानशास्त्र से ही होता है।

कुछ पूर्वपक्षी इस प्रकार कहते हैं—यद्यपि ब्रह्मशास्त्रप्रमाणक है, फिर भी उपासनाविधि के विषय के रूप में ही शास्त्र उसका ज्ञान कराता है। उदाहरणार्थ यूप, आहवनीय, आदि अलौकिक पदार्थों का भी ज्ञान विधि के अंग के रूप में शास्त्र

शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत्। कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनपरत्वाच्छास्त्रस्य। तथा हि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—"दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्" (शाबरभाष्य—१।१।२), "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्" (शाबरभाष्य १।१।२) "तस्य ज्ञानमुपदेशः" (जै० सू० १।१।५), "तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः" (जै० सू० १।१ २५) "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (जै० सू० १।२।१) इति च। अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्। तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। सति च विधिपरत्वे, यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयते एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्।

नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्—कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः इह तु भूतं नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति। तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानसापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति।

नार्हत्येवं भवितुम्, कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह० २।४।५); "य आत्मापहतपाप्मा·······सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा० ८।७।१); "आत्मेत्येवोपासीत" (बृह० १।४।७); "आत्मानमेव लोकमुपासीत" (बृह० १।४।१५); "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"

कराता है। इसीसे शास्त्र को जानने वाले कहते हैं "दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्" (उसका (शास्त्र का) प्रयोजन कर्म का ज्ञान कराना है) "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्, तस्य ज्ञानमुपदेशः, तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः, आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमदर्थानाम् आदिवाक्य भी शास्त्र की क्रियार्थकता बताते हैं। अतः शास्त्र पुरुष को किसी कार्य में प्रवृत्त करता हुआ और किसी कार्य से निवृत्त करता हुआ सार्थक होता है और अन्यवाक्य उसके अंग होते हैं। समानता के आधार पर वेदान्त-वाक्य भी उसी प्रकार सार्थक है। स्वर्ग आदि चाहने वाले पुरुष के लिये जैसे अग्निहोत्र आदि का विधान है उसी प्रकार अमृतत्व की इच्छा वाले के लिये ब्रह्मज्ञान का विधान हैं। यदि यह कहा जाय कि कर्मकाण्ड में साध्यरूप से धर्म जिज्ञास्य है और ज्ञानकाण्ड में नित्य-निवृत्त सिद्धवस्तु ब्रह्मजिज्ञास्य है, अतः दोनों में वैलक्षण्य है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का उपदेश विधि के प्रसंग में ही है। जैसे "आत्मा वाअरे द्रष्टव्यः" इत्यादि वाक्यों में विधि स्पष्ट है। वह आत्मा, वह ब्रह्म क्या है इस प्रकार

(मुण्ड० ३।२।९); इत्यादिषु विधानेषु सत्सु, "कोऽसावात्मा ?" "किं तद् ब्रह्म ?" इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः—"नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्येवमादयः। तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यति ' कर्त्तव्यविध्यननुप्रवेशे तु वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात् "सप्तद्वीपा वसुमती", "राजासौ गच्छति" इत्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात्।

ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि "रज्जुरियं नायं सर्पः" इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टम्। तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात्।

स्यादेतदेवम्, यदि रज्जुस्वरूपश्रवणमात्र इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत। न तु निवर्तते; श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्, "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात्। तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति।

की जिज्ञासा करने वाले के लिये सभी वेदान्त वाक्य नित्य सर्वज्ञादि ब्रह्म का उपदेश करते हैं। उसी की उपासना से शास्त्रकथित अदृष्टफल मुक्ति की प्राप्ति होती है। यदि वे वाक्य विधि के अंग न होते और यदि वे वस्तु कथन मात्र होते तो उनके विषय में हेयोपादेयता नहीं हो सकती, और वेदान्त वाक्य वैसे ही निरर्थक हो जाते जैसे पृथ्वी में सात द्वीप हैं, यह राजा जाता है, ऐसे वाक्य। यह कहा जा सकता है कि वस्तु कथनमात्र से भी उद्देश्यपूर्ति होती है जैसे यह रस्सी है, सांप नहीं है, इससे सर्प का भय जाता रहता है उसी प्रकार आत्मा संसारी नहीं है, ऐसा कहने से उसके संसारित्व का भय जाता रहता है परंतु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि रस्सी के सम्बन्ध में यह सर्प नहीं है, ऐसा सुनने मात्र से भ्रम मिट जाता है, किन्तु आत्मा के असंसारित्व के विषय में ब्रह्म विषयक वाक्यों के श्रवणमात्र से भ्रम नहीं मिटता, क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जिन्होंने ब्रह्मविषयक श्रुति का श्रवण किया है उनमें भी पूर्ववत् संसारित्व या सुखःदुख रहता है। अतः उनके लिये श्रवणोत्तर काल में मनन निदिध्यासन आदि विधि बतायी गयी है। इसलिये उपासना विधि का विषय होने से ही ब्रह्मशास्त्रप्रमाणक है ऐसा मानना चाहिये।

अत्राभिधीयते—न, कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यम्, यद्विषया जिज्ञासा "अथातो धर्मजिज्ञासा" इति सूत्रिता। अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुःखदु.खे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्यापि तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्। प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम्। तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनम्, केवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनम्, तत्रापि सुखतारतम्यम्, तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् "यावत्संपातमुषित्वा" इत्यस्माद्गम्यते। तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधची दनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवमविद्यादिदोषवतां

उपरोक्त पूर्वपक्षी के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि कर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञानके फलों में भेद हैं। श्रुति और स्मृति में कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म, धर्म कहे गये हैं उन्हीं के विषय में धर्म जिज्ञासा होती है। साथ ही हिंसादि रूप अधर्म का निषेध भी जिज्ञासा का विषय है। शास्त्र-कथितधर्माधर्म के फल क्रमशः पुण्यपाप (अर्थ-अनर्थ) रूप है और उनका परिणाम सुखदुःख है, ये ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सब को शरीर, वाणी, तथा मन एवं इन्द्रिय द्वारा अनुभूत होते हैं। यह प्रसिद्ध है। मनुष्य से लेकर ब्रह्मा तक सभी देहधारियों में सुखादि का तारतम्य है अतः उसके साधनभूत धर्मादि में भी तारतम्य है। प्रसिद्ध भी है कि फल की इच्छा और सामर्थ्यादि के आधार पर अधिकारी तारतम्य होता है। इसी से कहा गया है कि यागादि अनुष्ठान करने वाले उपासनारूप साधन के बल से मरणोपरान्त उत्तरमार्ग से जाते हैं, और केवल इष्ट पूर्त, और दत्त रूप (परोपकार और दानादि करने वाले) साधन से युक्त व्यक्ति दक्षिण पथ से जाते हैं। अतः यहाँ भी सुखतारतम्य और साधनतारतम्य शास्त्र द्वारा स्पष्ट होता है जैसे—"यावत् सम्पातमुषित्वा' (वहाँ कर्मों के क्षय होने तक रहकर) इस वाक्य से। इस प्रकार मनुष्य से लेकर नारकीय एवं स्थावर पर्यन्त जीवों में श्रुति प्रतिपादित धर्मसाध्य सुखतारतम्य वर्तमान है। उसी तरह उर्ध्वगत तथा अधोगत देहधारियों में सुख दुःखतारतम्य से उसके कारण का धर्माधर्मतारतम्य का ज्ञान होता है। श्रुति, स्मृति और

धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छा० ८।१२।१) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यते इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शन प्रतिषेधो नोपपद्येत। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेत्, न; तस्य स्वाभाविकत्वात् —"अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" (कठ० १।२।२१), "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" (मुण्ड० २।१।२), "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृह० ४।३।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्।

तत्र किंचित्परिणामिनित्यं यस्मिन्विक्रियामाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते; यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्ववादिनाम्, यथा वा सांख्यानां गुणाः। इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिःस्वभावम्, यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतद-

न्याय तीनों की दृष्टि से अविद्या दोषयुक्त सभी जीवधारियों के धर्म अधर्म के कारण शरीरग्रहणपूर्वक सुख दुःख तारतम्य रूप यह अनित्य संसार है। श्रुति भी कहती है "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" अर्थात् जब तक शरीर है तब तक सशरीर आत्मा के सुख दुःख का नाश नहीं होता, यही संसार के रूप का वर्णन है। श्रुति यह भी कहती है कि अशरीरी आत्मा को सुख दुःख स्पर्श नहीं करते। इस श्रुति से प्रिय अप्रिय से रहित मोक्ष की अवस्था को विधि निषेधात्मक कार्य का अविषय बताया गया है। यह कहना कि अशरीरत्व ही धर्म का कार्य है, ठीक नहीं है क्योंकि अशरीरत्व तो आत्मा का स्वभाव ही है। जैसे "अशरीरं शरीरेषु" इत्यादि वाक्यों द्वारा उक्त भाव स्पष्ट है। अतः धर्म फल से विलक्षण आत्मा का अशरीरत्व या मोक्ष नित्य है।

लेकिन मोक्ष की नित्यता परिणामी नित्यता नहीं है, परिणामी नित्य वह है जिसके विषय में विकृत होने पर भी यह वही है ऐसी बुद्धि बनी रहती है। जगत् को नित्य मानने वाले पृथ्वी को परिणामी नित्य मानते हैं। सांख्य में गुणों को परिणामी नित्य मानते हैं। किन्तु ब्रह्म या मोक्ष पारमार्थिक कूटस्थ नित्य आकाश के समान सर्वव्यापी, सर्वक्रियाहीन, नित्य तृप्त, निरवयव एवं स्वयं ज्योति स्वरूप

शरीरत्वं मोक्षाख्यम् "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च" (कठ० १।२।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता। तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरुपगम्यते। अतो न कर्तव्यशेष-ब्रह्मोपदेशो युक्तः।

अपि च "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड० ३।२।९), "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मुण्ड. २।२।८), "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तैत्ति० २।९)। "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" (बृह० ४।२।४), "तदा-त्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्" (वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषत् १।४।१०), "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" ? (ईशा० ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्म-विद्यानन्तरमेव मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। तथा "तद्धैतत्पश्यनृषिर्वा-मदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृह० १।४।१०) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयो-र्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणायोदाहार्यम्, यथा "यथा "तिष्ठन् गायति" इति तिष्ठति-गाय-त्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते। "त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि" (प्रश्न ६।८), "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवि-

है। ऐसे ब्रह्म का संबन्ध धर्माधर्म तथा उसके फल सुखदुःख से कालत्रय में कभी नहीं हो सकता है। वही अशरीरत्व मोक्ष है जिसके विषय में श्रुति कहती है धर्माधर्म से भिन्न, कृत् अकृत् से भिन्न, भूतभव्य से भिन्न। अतः वह मोक्ष ब्रह्म ही है जिसके विषय में जिज्ञासा की जा रही है। यदि यह कहा जाय कि वह ब्रह्म विधि के अंगरूप में उपदिष्ट है और मोक्ष को कर्मसाध्य माना जाय तो अवश्य ही मोक्ष अनित्य हो जायगा। ऐसी स्थिति में तारतम्ययुक्त कर्मफलों में से किसी उच्चस्थिति को मोक्ष मानना होगा। किन्तु सभी मोक्षवादियों द्वारा मोक्ष को नित्य स्वीकार किया गया है। अतः ब्रह्मोपदेश को किसी विधि का अंग मानना उपयुक्त नहीं है।

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति' आदि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान के अनन्तर मोक्ष को बताती हुई दोनों के बीच कार्यान्तर का निषेध करती हैं। इसी प्रकार 'तद्धैतत्पश्य नृषिर्वामदेवः' आदि श्रुतियाँ भी ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभाव के बीच कार्यान्तर का निराकरण करती हैं—वैसे ही जैसे "बैठकर गाता है" में बैठने और गाने के बीच कोई कार्यान्तर नहीं ज्ञात है। अन्य श्रुतियाँ जैसे 'त्वं हि नः पिता' आदि यह

विति, सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु" (छा० ७।१।३), "तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः" (छा० ७।२६।२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति। तथा च आचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्—"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" (न्यायसूत्र १।१।२) इति। मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति।

न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानं संपद्रूपम् यथा "अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति" (बृह० ३।१।९) इति। न चाध्यासरूपम्, यथा "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छा० ३।१८।१), "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" (छा० ३।१९।१) इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः। नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम् "वायुर्वाव संवर्गः", "प्राणो वाव संवर्गः" (छा० ४।३।१, ३) इतिवत् नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम्।

स्पष्ट करती हैं कि मोक्ष का प्रतिबंधक अज्ञान का नाशमात्र ही ब्रह्मज्ञान का फल है। न्यायसूत्र में कहा है कि दुःखजन्मप्रवृत्ति धर्म अधर्म दोष एवं मिथ्याज्ञान में से क्रमशः (दूसरा पहले का कारण है) दुःख आदि का नाश मिथ्याज्ञान के नाश से हो जाता है और मिथ्याज्ञान का नाश ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान से होता है।

यह ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान संपद्रूप नहीं है जैसा कि मन अनन्त है और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, अतः मनमें विश्वे देवों की दृष्टि करने से वह अनन्त लोक को प्राप्त करता है। (संपद्रूप उपासना में समानता के आधार पर—ब्रह्म जीव में चैतन्य समान है—ब्रह्म का जीव पर आरोपण करके ब्रह्म की प्राप्ति कही जाती है) किन्तु ब्रह्म प्राप्ति इस प्रकार की प्राप्ति नहीं है। न तो यह ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान अध्यास रूप है जैसे मन ब्रह्म है इसमें। यहाँ आलंबन प्रधान प्रतीकोपासना है। न तो ब्रह्मज्ञान विशिष्ट क्रिया योग निमित्तक ही है जैसे कि प्रलय काल में सूर्यादि वायु में लीन हो जाते हैं वैसे ही सुषुप्ति में इन्द्रियादि प्राण में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार वायु और प्राण में अभेद रूप से उपासना विशिष्ट क्रिया योग है। यह ब्रह्मज्ञान आज्या वेक्षणादि के समान कर्मांग का संस्कार रूप भी नहीं है (दर्शपूर्णमासयाग में उपांशु याग का अंगभूत यजमान की पत्नी द्वारा घृत को देखना नामक संस्कार है अर्थात् उसके देखने से घृत पर संस्कार पड़ता है, आत्मा अरे वा द्रष्टव्यः का अर्थ उस प्रकार नहीं

संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने "तत्त्वमसि" (छा० ६।८।७) "अहं ब्रह्मास्मि" (बृह० १।४।१०), "अयमात्मा ब्रह्म" (बृह० २।५।१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत; "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" (मुण्ड० २।२।८) इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन्; "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड० ३।२।९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि सम्पदादिरूपत्वे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन् तस्मान्न सम्पदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् ।

अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या । किं तर्हि ? प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रैव । एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम् । न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (केन० १।३) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्, "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" (बृह० २।४।१४) इति च ।। तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति, "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते" इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य,

करना चाहिये)। ब्रह्मज्ञान को संपद्रूप मानने से तत्त्वमसि, अयमात्मा आदि श्रुति वाक्यों का वस्तुप्रतिपादन रूप समन्वय का खण्डन हो जायगा, तथा भिद्यते हृदयग्रन्थिआदि वाक्यों द्वारा जो अविद्या निवृत्तिरूप फल कहा गया है उसका बाध हो जायगा। ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति आदि वाक्यों से जो ब्रह्मभाव की प्राप्ति कही गई है संपदादि रूप मानने से उसका संतोषजनक समन्वय नहीं हो सकेगा। इस प्रकार ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान संपद्रूप (काल्पनिक तादात्म्य) नहीं माना जा सकता है।

अतः ब्रह्मज्ञान पुरुष तन्त्र नहीं है। क्यों ? जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणविषय वस्तुतन्त्र होते हैं वैसे ही यह भी है। भूतवस्तु ब्रह्म तथा उसके ज्ञान का संबंध किसी भी युक्ति से किसी कार्य के साथ नहीं दिखाया जा सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता हैकि जानना क्रिया है अतः ब्रह्मज्ञान का संबंध क्रिया से है। क्योंकि 'अन्यदेव' तथा 'येनेदं सर्वं' आदि श्रुतियाँ ब्रह्म को ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न कहती हैं और कहती हैं कि जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है उसे कैसे जाना जाय ? इस प्रकार ब्रह्म के ज्ञानक्रिया के कर्मत्व का निषेध किया गया है। इस श्रुति से कि जो वाणी को प्रकाशित करता है किंतु जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता ब्रह्म इंद्रियों का अविषय सिद्ध होता है और इस श्रुति से कि उसी को तुम ब्रह्म जान, वह ब्रह्म

"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते" (केन० १।४) इति। अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरितिचेत्, न; अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। न हि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयत् अविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति। तथा च शास्त्रम्— "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" (केन० २।३), "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः" (बृह० ३।४।२) इति चैवमादि। अतोऽविद्याकल्पित-संसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः।

यस्य तूत्पाद्यो मोक्षः, तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च। तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। न हि दध्यादि विकार्यम्, उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके।

न च आप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्; स्वरूप-

नहीं है जिसकी लोग उपासना करते हैं; ब्रह्म के उपासना क्रिया के कर्मत्व का भी निषेध है। शंका होती है कि यदि ब्रह्म अविषय है तो उसे शास्त्रयोनि (शास्त्र प्रमाणक) क्यों कहा गया? उत्तर है कि शास्त्र का प्रयोजन अविद्याकल्पित भेद की निवृत्तिमात्र है। शास्त्र विषयभूत ब्रह्म को इदं रूप से प्रतिपादित नहीं करता। प्रत्यगात्मा रूप से ब्रह्म अविषय है ऐसा कहकर शास्त्र अविद्याकल्पित ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद की निवृत्ति करता है। इसीसे श्रुति कहती है कि जो ऐसा समझता है कि उसे ब्रह्मज्ञात है उसे ब्रह्मज्ञात नहीं है और जो समझता है कि ब्रह्म ज्ञात नहीं है उसे ही ब्रह्म ज्ञात है, क्योंकि ब्रह्म जानने वालों को अज्ञात और न जानने वालों को ज्ञात है। कारण यह है कि द्रष्टा को दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, श्रोता को श्रुति से नहीं श्रवण किया जा सकता, मन्ता को मन से मनन नहीं किया जा सकता,विज्ञाता को विज्ञान से नहीं जाना जा सकता। अतः शास्त्र द्वारा अविद्याकल्पित संसारित्व को दूर कर नित्यमुक्त आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के कारण मोक्ष अनित्य नहीं हो सकता है। जिसके मत में मोक्ष उत्पाद्य है अथवा एक विकार है उसको मानसिक वाचिक या कायिक क्रियाओं की अपेक्षा है। परंतु इन दोनों पक्षों में मोक्ष का अनित्य होना निश्चित है जैसे घटादि उत्पाद्य तथा दधि आदि विकार्य पदार्थों में नित्यत्व नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता है कि मोक्ष प्राप्य है अतः उसमें कार्यापेक्षा है क्योंकि मोक्ष आत्मास्वरूप होने के कारण वास्तव में प्राप्य नहीं

व्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मण आकाशस्येव ।

नापि संस्कार्यो मोक्षः येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्यात्, दोषापनयनेन वा। न तावद् गुणाधानेन संभवति; अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य; नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। स्वात्मधर्म एव सन् तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथा आदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्, न; क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा स्वाश्रयक्रियया विक्रियेत, अनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। "अविकार्योऽयमुच्यते" इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रिया आत्मनः सम्भवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयात्मा संस्क्रियते।

ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतधारणादिकया क्रियया देही संस्क्रिय-

है। आत्मा से भिन्न मानकर भी ब्रह्म को प्राप्य नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सर्वगत होने से आकाश के समान ब्रह्म नित्यप्राप्त है।

मोक्ष को संस्कार्य कहकर कार्यापेक्षा नहीं दिखाई जा सकती है। संस्कार्यवस्तु में विशेषगुण लाना अथवा उसके दोष मिटाना ही संस्कार है। मोक्ष आत्मा का जिसमें कोई विशेष गुण जोड़ा नहीं जा सकता स्वरूप ही है और दोषनिवारण नामक संस्कार भी ब्रह्म में संभव नहीं है क्योंकि मोक्ष तो नित्य शुद्ध ब्रह्मस्वरूप है। यह कहना ठीक नहीं है कि जैसे दर्पण पर बैठे धूल को घर्षण से दूर कर उसे चमकीला बनाया जाता है वैसे ही आत्मा के अविद्या द्वारा तिरोभूत स्वरूप को उपासनादि क्रिया से स्पष्ट किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा किसी भी प्रकार की क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता। जिसमें क्रिया होती है उसको विकृत किये बिना वह संभव नहीं है। यदि आत्मा अपने में आश्रित क्रिया से विकृत होने वाली होती तो उसमें अनित्यत्व आ जाता। यह आत्मा अविकारी है इस श्रुति से उसका बाध होता है। अतः आत्मा में स्वाश्रित क्रिया संभव नहीं है। और यदि क्रिया अन्य में आश्रित है तो उसका विषय आत्मा नहीं हो सकती और उस क्रिया से आत्मा का संस्कार नहीं हो सकता। यह कहना ठीक नहीं कि स्नान आचमन यज्ञोपवीत धारण आदि देहाश्रित कर्मों से देही या आत्मा शुद्ध होती

माणो दृष्टः । न; देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मन, संस्क्रियमाणत्वात् । प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम् । तया देहाश्रश्रया तत्संहत एव कश्चिद्‌विद्ययात्मत्वेन परिगृहीत, संस्क्रियत इति युक्तम् । यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलम्, "अहमरोग:" इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते, एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतधारणादिकया "अहं शुद्धः संस्कृतः" इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते, स संस्क्रियते । स च देहेन संहत एव । तेनैव अहंकर्त्रा अहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निवर्त्यन्ते । तत्फलं च स एवाश्नाति, "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो-ऽभिचाकशीति" (मुण्ड० ३।१।१) इति मन्त्रवर्णात्, "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्या-हुर्मनीषिणः'' (कठ० १।३।४) इति च । तथा च "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता० ६।११) इति, "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्" (ईश० ८) इति च. एतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः । ब्रह्मभावश्च

है क्योंकि इससे तो केवल देहाश्रित या अविद्याग्रसित आत्मा ही शुद्ध होती है। स्नान आचमनादि का संबंध देह से है यह प्रत्यक्ष ही है। जो अविद्या के कारण देहादि को आत्मा समझता है उसके लिए उपरोक्त संस्कार ठीक ही है। अतः यही कहना ठीक है कि देहाश्रित कर्मों से वही शुद्ध होता है जिसका संबंध शरीर से है और जिसे अज्ञानवश आत्मारुप माना जाता है। जैसे चिकित्सा द्वारा धातुओं की समता होने पर उसी को आरोग्यलाभ होता है जिसका संबंध शरीर से है और जिसे देहाभिमान हैजिस कारण वह कहता है मैं आरोग्य हूं। उसी प्रकार आचमनादि करने पर मैं शुद्ध हूं ऐसा भावउसी को होता है जो शरीर से संबंधित है। अवश्य ही जीव शरीर से संबंधित है। जिसे अहंकार है, अहं प्रत्यय है, जो ज्ञाता है, उसी से सभी क्रियायें होती हैं और वही उनका फलभोक्ता है। श्रुति कहती है "उन दोनों में से एक फल खाता है और एक बिना खाते हुए देखता रहता है।" यह भी कहा है कि "विद्वान् लोग शरीर इन्द्रिय मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।" तथा एक देव सब जीवों में गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, सब जीवों में व्याप्त, सबका साक्षी, चैतन्य केवल और निर्गुण है।' वह आत्मा सर्वव्यापी, शुद्ध अशरीरी दुःख मुक्त, अविनाशी, पापरहित है दोनों मंत्र ब्रह्म की अनाधेयातिशयता (अर्थात् जिसमें कुछ बढ़ाया नजा सके) और नित्य शुद्धता दिखाते हैं। ब्रह्म भाव ही मोक्ष है। अतः मोक्ष संस्कार्य

मोक्षः। तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः अतोऽन्यमोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम्। तस्मात् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते।

ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया। न, वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा, यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च। यथा 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्" इति, "संध्यां मनसा ध्यायेत्" (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति चैवमादिषु। ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्, पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्। अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं न शक्यम्; केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्; न चोदनातन्त्रम्, नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः," "योषा वाव गौतमाग्नि-" (छा० ५।७, ८।१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति। केवलचोदनाजन्यत्वात् क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिः, न सा चोदनातन्त्रा; नापि

नहीं है। ज्ञान से भिन्न उत्पत्ति, विकृति आप्ति और संस्कृति आदि किसी भी क्रिया का संबंध मोक्ष से कोई नहीं दिखा सकता। अतः मोक्ष से ज्ञान के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की क्रिया का लेशमात्र भी संबंध नहीं है।

शंका होती है—ज्ञान भी तो मानसी क्रिया है। उत्तर है नहीं, क्योंकि ज्ञान और क्रिया में भेद है। क्रिया वह है जिसका विधान वस्तु-रूप की अपेक्षा के बिना किया जाता है और जो पुरुष के चित्त व्यापार के आधीन है जैसे जिस देवता के लिये हविग्रहण किया हो उसका ध्यान वषट् का उच्चारण करता हुआ करे। या संध्या का मन से ध्यान करे। ध्यानचिंतन आदि यद्यपि मानसिक है फिर भी पुरुष के आधीन उसका करना, न करना या अन्यथा करना है। अतः वह पुरुषाधीन है। ज्ञान प्रमाण-जन्य होता है और प्रमाण वह है जो यथाभूतवस्तु को विषय करे। अतः ज्ञान के विषय में करना या न करना या अन्यथा करना संभव नहीं है। ज्ञान केवल वस्तुतंत्र है न कि विधानाधीन या पुरुषाधीन। अतः मानसिक होते हुए भी ज्ञान का क्रिया से महान् भेद है। पुरुषो वा गौतमाग्निः या योषा वा गौतमाग्निः" में पुरुष और स्त्री में अग्निभाव केवल मानसिक है। केवल विधानाधीन होने से यह भाव एक क्रिया है और पुरुष तंत्र है। परंतु जगत् प्रसिद्ध अग्नि का ज्ञान न तो पुरुषतंत्र है न विधाना-

पुरुषतन्त्रा। किं तर्हि ? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेतिज्ञानमेवैतत्; न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्।

तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अपि अनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्ति उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्, अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात्। किमर्थानि तर्हि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि ? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानि इति ब्रूमः। यो हि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः "इष्टं मे भूयात्, अनिष्टं मा भूत्" इति, न च तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवांछिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादीनि। तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते "इदं सर्वं यदात्मा" (बृह० २।४।६), "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्....केन कं विजानीयात्....विज्ञातामरे केन विजानीयात्" (बृह० ४।५।१५) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृह० २।५।१९) इत्यादिभिः।

धीन। यह वस्तु तंत्र है और वस्तु प्रत्यक्ष का विषय है अतः यह ज्ञान है न कि क्रिया। इसी प्रकार सभी प्रमाणों के विषयों को समझना चाहिये।

जैसे लोक में ज्ञान अविधेय है वैसे ही ब्रह्मविषयक ज्ञान भी अविधेय है। यह सही है कि ब्रह्म के विषय में लिङ्लोट् आदि विधि प्रत्यय मिलते हैं। फिर भी ये प्रत्यय अनियोज्य विषय ब्रह्म के विषय में वैसे ही कुंठित हो जाते हैं जैसे पत्थर पर मारने से छुरा, क्योंकि वे अहेयानुपादेय वस्तु विषयक होते हैं। तो आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' आदि विधि के समान दिखाई पड़ने वाले श्रुतियों का क्या अर्थ है ? इन वाक्यों का उद्देश्य है जिन विषयों की ओर हमारी स्वाभाविकप्रवृत्ति है उनसे हमको विमुख करना। जब मनुष्य बहिर्मुख वृत्ति से केवल बाह्यवस्तुओं के लिये यह कहकर कि अमुक वस्तु सुखकर और अमुकवस्तु दुःखकर है प्रयत्न करता है और फिर भी परम पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं कर पाता है तब उस आत्यंतिक पुरुषार्थवादी को आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः आदि श्रुतियाँ शरीर इंद्रिय समुदाय के स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषय बाह्यपदार्थों से विमुख करके उसके ध्यान को प्रत्यगात्मा की ओर आकृष्ट करती है। ऐसे आत्मान्वेषी व्यक्ति के लिये उपनिषदों ने शिक्षा दिया है—इदं सर्वं यदात्मा आदि।

यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते । अलंकारो ह्ययमस्माकम्, यद्ब्रह्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति । तथा च श्रुतिः "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्" (बृह० ४।४।१२) इति । "एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत" (गीता० १५।२०) इति च स्मृतिः । तस्मान्नप्रतिपत्ति विधिविषयतया ब्राह्मणः समर्पणम् ।

यदपि केचिदाहुः, प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्तीति, तन्न, औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात् । योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्मस्वरूपः उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्तीति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्, "स एष नेति नेत्यात्मा" (बृह० ३।९।२६) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्; य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात् ।

नन्वात्मा अहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम् । न, तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात् ।

यद्यपि ब्रह्मज्ञान कर्तव्यापेक्षी अथवा हानोपादेय नहीं है फिर भी हम उसे उसी अर्थ में ग्रहण करते हैं । ब्रह्मज्ञान होते ही कर्तव्याकर्तव्य का अंत हो जाता है और मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है । यह हमारे लिये दूषण नहीं भूषण है । श्रुति भी कहती है कि यदि कोई मनुष्य अपने को मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जान जाता है तो किस कामना से अथवा किस उद्देश्य से वह शरीर की चिंता करेगा ? गीता में भी कहा है—हे भारत, ऐसा जानकर बुद्धिमान कृतकृत्य हो जाता है । अतः वेद ब्रह्म का ज्ञान उपासना विधि के विषय के रूप में नहीं कराते हैं ।

जो लोग यह कहते हैं कि वेद का कोई अंश ऐसा नहीं है जो विधि-निषेध या उसके अंग के अतिरिक्त केवल वस्तुवादी है वे गलत कहते हैं क्योंकि उपनिषदों द्वारा उपदिष्ट आत्मा किसी का अंग नहीं है । वह आत्मा जो केवल उपनिषद ज्ञेय है, जो असंसारी है, जो ब्रह्मस्वरूप है और जो चार प्रकार के विकारवान द्रव्यों से भिन्न है तथा जो स्वप्रकरणस्थ अनन्य शेष है उस आत्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं है या उसका ज्ञान नहीं है इसलिये कि श्रुति कहती है कि वह आत्मा यह नहीं है यह नहीं है, क्योंकि आत्मा का निराकरण संभव नहीं है, जो निराकर्ता है वही तो आत्मा है । यह शंका कि आत्मा अहंप्रत्यय का विषय होने के

न ह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्यात्मा । अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यः विधिशेषत्वं वा नेतुम् । आत्मत्वादेव च सर्वेषाम्, न हेयो नाप्युपादेयः । सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति । पुरुषो हि विनाशहेत्वभावादविनाशी; विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तःवभावः । तस्मात् पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः" (कठ० १।३।११, "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृह० ३।९।२६) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्वे उपपद्यते । अतोभूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम् ।

यदपि शास्त्रतात्पर्यं विदामनुक्रमणम्, "दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्", इत्येवमादि, तद् धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम् । अपि च "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां

कारण उपनिषद्गम्य नहीं है ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा का साक्षित्व दिखाकर इसका निराकरण किया जा चुका है । वास्तव में कर्ता से भिन्न और अहंप्रत्यय का साक्षी जो सर्वभूतों में है समान है एक है, कूटस्थ नित्य है सर्वात्मा है, वह आत्मा न तो वेद के कर्मकाण्ड द्वारा और न तर्क द्वारा समझा जा सकता है । अतः उसका निराकरण किसी से नहीं हो सकता और न वह किसी विधि का अङ्ग हो सकता है, और वह सर्वात्मा है अतः वह हेयोपादेय भी नहीं है । आत्मापर्यंत सभी वस्तुएँ विकारवान होने के कारण विनाशवान हैं । आत्मा अविनाशी है क्योंकि उसमें विनाश का कोई कारण उपस्थित नहीं है, उसमें विकार का कोई कारण नही है अतः वह कूटस्थ नित्य है । इसीसे वह आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है । श्रुति कहती है—आत्मा से परे कुछ नहीं है, वही सबका अंत है, वही परम लक्ष्य है तथा मैं उस आत्मा के विषय में प्रश्न करता हूँ जो उपनिषद् उपदिष्ट है । औपनिषद विशेषण की विशेषता यही है कि आत्मा उपनिषद्गम्य है । अतः यह कहना कि वेद का कोई अंश भूतवस्तु प्रतिपादक नहीं है केवल दुस्साहस मात्र है ।

जो शास्त्रविद हैं, उनके द्वारा उद्धृत इस वाक्य का कि उसका (शास्त्र का) उद्देश्य कर्मावबोधन है, अर्थ यह है कि वे धर्मजिज्ञासाविषयक होने से शास्त्र के उस अंश से संबंधित हैं जिसमें विधिनिषेध बताया गया है । जो इस वाक्य के प्रति आग्रह करते हैं कि वेद का अर्थ कर्मपरक होने से जो वाक्य कर्मविषयक नहीं है वह निरर्थक

भूतोपदेशानामानर्थक्यप्रसंगः। प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः ? न हि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात् क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्, नैष दोषः, क्रियासार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव; क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति। यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति। उच्यते—अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति; तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन।

अपि च "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्येवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते। न च सा क्रिया, नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत्, "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम्। तच्चानिष्टम्। न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण।

है उनकी दृष्टि से भूतवस्तुविषयक सभी वेदवाक्य निरर्थक होता है। यह कहना ठीक नहीं है कि वेद विधिनिषेध के अतिरिक्त कर्मांग रूप से भूतवस्तु की शिक्षा देते हैं किन्तु कूटस्थ नित्य वस्तु के विषय में शिक्षा नहीं देते हैं। उपदिष्ट भूतवस्तु क्रिया का अंग होने से क्रिया नहीं हो जाती है ? यह कहने से कि यद्यपि भूतवस्तु क्रिया नहीं है फिर भी क्रिया का अंग होने से उसकी सार्थकता है; कोई अंतर नहीं पड़ता। यद्यपि वह क्रिया के लिये है फिर भी भूतवस्तु विषयक उपदेश तो भूतवस्तु विषयक ही है। क्रियार्थक होने मात्र से भूतवस्तु अनुपदिष्ट तो नहीं हो जाती है। यदि पूछा जाय कि ऐसा कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है तो हमारा यह कहना है कि एक सिद्धवस्तु जो अन्य प्रमाणगम्य नहीं है वह भी अन्य भूतवस्तुओं के समान है। भूतवस्तु आत्मा के ज्ञान से उस मिथ्याज्ञान का निवारण होता है जो संसारित्व का कारण है। अतः ऐसे आत्मा का उपदेश भी सार्थक है। ब्रह्मविषयक वाक्य भी उसी प्रकार सार्थक हैं जैसे क्रियांग रूप से भूतवस्तु विषयक उपदेश। इसके अतिरिक्त "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" ऐसे वाक्य केवल क्रिया का निषेध करते हैं। यह न क्रिया है न क्रिया का साधन। अतः इस सिद्धान्त पर कि वे सभी वाक्य जो क्रियार्थक नहीं हैं, निरर्थक हैं ऐसे सभी वाक्य जो क्रिया का निषेध करते हैं व्यर्थ हो जायेंगे। यह स्वीकार्य नहीं है। हनन के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण नकार का अर्थ हनन क्रिया से निवृत्ति के अतिरिक्त

नवश्चैष स्वभावः, यत्स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयतीति । अभावबुद्धिश्चौदासीन्ये कारणम् । सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः । तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम् ।

यदप्युक्तम्—कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात्, "सप्तद्वीपा वसुमती" इत्यादिवदिति, तत्परिहृतम्; "रज्जुरियम्, नायं सर्पः" इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात् ।

ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम् । अत्रोच्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुम्, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात् । न हि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभया

अन्य क्रिया के विधान के रूप में नहीं किया जा सकता है । नकार अपने संबंधी पदार्थ के अभाव का द्योतक होता है । अभावबुद्धि उदासीनता का कारण है । उसके उपरांत वह दग्ध इंधन के समान अपने आप शांत हो जाती है । अतः हमारा मत है कि "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" का अर्थ संभावित क्रिया से विमुख कराना ही है अर्थात् इसका अर्थ यह नहीं है कि अहननं कुर्यात् क्योंकि तब तो विधिनिषेध में भेद ही नहीं रहेगा । अर्थात् यहाँ पर्युदास नहीं है । प्रसक्त प्रतिषेध है । केवल प्रजापति व्रत आदि के निषेध के प्रसंग में इसका अपवाद है (ब्रह्मचारी उदय होते सूर्य का दर्शन न करें—यहाँ दर्शन न करने का संकल्प क्रियारूप है) । अतः निरर्थकता दोष उन भूतवस्तुओं के शिक्षा के प्रसंग में आता है जो केवल उपाख्यान रूप है और जो पुरुषार्थ के लिए अनुपयोगी है ।

इस प्रकार इस मत का कि विधि से संबंध न होने पर भूतवस्तु विषयक वाक्य पृथ्वी सप्तद्वीपा है वाक्य के समान निष्प्रयोजन है, खण्डन किया गया है, क्योंकि वस्तुकथन मात्र से भी उद्देश्यपूर्ति होती है जैसे, यह रस्सी है सर्प नहीं, इस वाक्य से ।

यह कहना कि ब्रह्मविषयक श्रवण के उपरांत भी पुरुष संसारी बना रहता है, अतः यह रस्सी है सर्प नहीं, इस वाक्य के समान ब्रह्म विषयक वाक्य सार्थक नहीं है ठीक नहीं । क्योंकि मैं ब्रह्म हूँ, इस भाव को प्राप्त ब्रह्मज्ञानी पुरुष में संसारित्व नहीं दिखाया जा सकता है । ऐसा करने से वेद प्रमाणित ब्रह्मज्ञान का विरोध हो जायगा । यह कहना कि पुरुष विशेष जिसमें देहात्मभाव होने के कारण दुःखभयादि होता है

दिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। न हि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति। न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छा० ८।१२।१) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेत्, न; सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न ह्यात्मनः शरीराभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वा अन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यमशरीरत्वम्, अकर्मनिमित्तत्वात् इत्यवोचाम। तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेत् न; शरीरसंबन्धस्यासिद्धत्वात्, धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः, शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसंगात्। अन्धपरम्परैवैषा अनादित्वकल्पना। क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः

उसी पुरुष में शास्त्र द्वारा आत्मज्ञान हो जाने पर भी अविद्याजन्य दुःखभयादि होते रहेंगे ठीक नहीं है। एक धनिक व्यक्ति जिसे अपने धन का अभिमान है धन के चोरी जाने पर दुःखी होता है परंतु वही व्यक्ति जब संसार से विरक्त हो जाता है और उसमें धनाभिमान नहीं रहता है तो क्या उसको धन की चोरी से दुःख होता है? वैसे ही कुण्डल के स्वामी को कुण्डल से सुख प्राप्त होता है तो क्या इसका यह अर्थ होगा कि वही व्यक्ति यदि कुण्डल का त्याग कर दे और स्वामित्व से मुक्त हो जाय तो उसे कुण्डल से सुख प्राप्त होगा? इसी से श्रुति कहती है कि अशरीरी आत्मा को सुखदुःख स्पर्श नहीं करते हैं। यदि यह कहा जाय कि अशरीरत्व तो शरीरपात पर ही होगा, जीवित रहने पर नहीं, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शरीरत्व तो केवल मिथ्याज्ञानजन्य है। आत्मा का शरीरत्व केवल मिथ्याज्ञानजन्य देहात्मभाव के अतिरिक्त और किसी प्रकार से नहीं माना जा सकता। पहले कहा जा चुका है कि कर्म से उत्पन्न न होने से आत्मा का अशरीरत्व नित्य है। यह कहना कि धर्माधर्म के कारण शरीरत्व प्राप्त होता है, ठीक नहीं। आत्मा का शरीर के साथ संबंध सिद्ध नहीं है। अतः आत्मा का धर्माधर्मकारित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। यहाँ एक आत्माश्रय दोष भी है—आत्मा शरीर का संबंध धर्माधर्म के कारण और आत्मा शरीर संबंध के कारण धर्माधर्म है। यह कहना कि ये दोनों अनादि हैं केवल अंधपरंपरा होगी। आत्मा

कर्तृत्वानुपपत्तेः। संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेत्, न; धनदानाद्युपार्जितभृत्यसंबंधित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः, न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिभावसंबन्धनिमित्तं किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः संबंधहेतुः। ऐतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम्।

अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावहमभिमानो गौणः, न मिथ्येति चेत्, न; प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः—यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययमाङ्मुख्योऽन्यः सिद्धः; ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः सिद्धः—तस्य तस्मिन्पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतः, नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतः, न गौणौ; यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ; यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिदमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघाते अहम्

में क्रिया न होने से आत्मा कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि आत्मा भी उसी अर्थ में कर्त्ता हो सकता है जिसमें राजा कुछ न करते हुए भी कर्त्ता माने जाते हैं, ठीक नहीं है। क्योंकि राजादि का संबंध धनादि के आधार पर सेवकों से होता है किंतु आत्मा के सम्बन्ध में धनादि दान की कल्पना नहीं की जा सकती है जिससे कि आत्मा और शरीर में सेवकसेव्यभाव उत्पन्न हो। आत्मा शरीर के सम्बन्ध का कारण मिथ्याज्ञान स्पष्ट ही है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मिथ्याज्ञान से ही आत्मा में यजमानत्व में भी है।

यहाँ एक शंका की जा सकती है कि देहाभिमान आदि आत्मा से भिन्न केवलगौण हैं मिथ्या नहीं, यह ठीक नहीं क्योंकि मुख्य गौण का भेद तो वहाँ होता है जहाँ वस्तुओं का भेद प्रसिद्ध हो। जैसे केसर आदि से युक्त सिंह विशेष आकृति वाले पुरुष से भिन्न ज्ञात है और क्रूरता, शूरता आदि सिंह के गुणों से युक्त पुरुष भी ज्ञात है।अतः अन्वयव्यतिरेक से पुरुष सिंह शब्द में हम पुरुष को मुख्य और सिंह को गौण मानते हैं। परन्तु जिसको भेद का ज्ञान नहीं है उसे मुख्य गौड़ के भेद का ज्ञान न होगा। ऐसे व्यक्ति द्वारा एक शब्द का प्रयोग दूसरे के स्थान में केवल भ्रान्ति के कारण होता है, गौण अर्थ में नहीं। जैसे अंधकार में यह मनुष्य है इस प्रकार के शब्द का प्रयोग और ज्ञान यह स्थाणु है इस ज्ञान के अभाव में ही होता है। ऐसे ही अज्ञान के ही कारण अकस्मात् शुक्ति को यह रजत है ऐसा हम निश्चित करते हैं। इसी प्रकार देहादि के लिये मैं

इति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम् ? आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव, न गौणः। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः "तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव" (बृह० ४।४।७) इति; "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव" इति च। स्मृतिरपि च "स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" (भ० गी० २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञस्य लक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबन्धं दर्शयति। तस्मान्नावगतब्रह्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम्; यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मभाव इत्यनवद्यम्।

यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणः न

का प्रयोग और आत्मभाव से उसका ज्ञान आत्मा और अनात्मा का ज्ञान न होने के कारण होते हैं। उसे गौण कैसे कहा जा सकता है ? विद्वान् व्यक्ति भी जो आत्मा अनात्मा का भेद जानते हैं वे भी शब्द प्रत्यय का भेद करने में वैसे ही चूक जाते हैं जैसे साधारण गड़रिये आदि। अर्थात् वे भी देहादि के लिये मैं का प्रयोग करते हैं। अतः शरीर से आत्मा को भिन्न मानने वालों के लिये शरीर के प्रति अहं का प्रयोग मिथ्या है न कि गौण। इस प्रकार यह सिद्ध है कि शरीरत्व मिथ्याज्ञान के कारण होने से जिसको आत्मा का ज्ञान हो गया है वह जीवित अवस्था में भी अशरीर है। ज्ञानी के प्रति श्रुतिवाक्य भी ऐसा ही कहते हैं —जैसे साँप की केचुल मिट्टी के ढेर के ऊपर मृत और परित्यक्त पड़ी रहती है उसी प्रकार आत्मवित् का शरीर पड़ा रहता है। उस समय यह अशरीर, अमर, प्राण आत्मा केवल प्रकाश है, ब्रह्म है। फिर कहा है कि कि नेत्र रहने पर भी मानो वह अनेत्र है, कर्ण रहने पर भी मानो अकर्ण है, वाणी रहने पर भी मानो अवाणी है, मन रहने पर भी वह अमन है, प्राण रहते हुए भी मानो वह अप्राण है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण के प्रसंग में गीता कहती है कि ज्ञानी पुरुष का किसी कर्म के साथ कोई संबंध नहीं होता। अतः जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है उसे पहले के समान संसारित्व न होगा। क्योंकि जिसमें पहले के समान संसारित्व है स्पष्ट ही उसे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है। अतः हमारा सिद्धांत निर्दोष है।

स्वरूपपर्यवसायित्वमिति, तन्न; अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः। यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत, भवेत्तदा विधिशेषत्वम्; न तु तदस्ति, मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्। तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकम्, वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति सिद्धम्।

एवं च सति "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति तद्विषयः पृथक् शास्त्रारम्भ उपपद्यते। प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि "अथातो धर्मजिज्ञासा" इत्येवारब्धत्वान्न पृथक् शास्त्रमारभ्येत। आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत "अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा" इति, "अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा" (जै० सू० ४।१।१) इतिवत्। ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति।

तस्माद् "अहं ब्रह्मास्मि" इत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि। न ह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ सत्याम्, निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति।

श्रवण उपरान्त मनन निदिध्यासन आदि के कथन के कारण यह कहना कि ब्रह्म विधि का अंग है, स्वरूप पर्यवसायी नहीं है ठीक नहीं है क्योंकि श्रवण के समान मननादि भी ब्रह्म के अवबोध के लिये हैं। यदि ब्रह्मज्ञान का उपयोग अन्यत्र होता तो यह विधि का अंग होता परंतु ऐसा नहीं है। मननादि केवल ब्रह्मज्ञानपर्यवसायी हैं। अतः उपासनाविधि के अंग रूप में ब्रह्म शास्त्र उपदिष्ट नहीं है। वेदांतवाक्यों के समन्वय से ब्रह्म स्वतन्त्ररूप से शास्त्र उपदिष्ट है। इसी कारण अथातो ब्रह्मजिज्ञासा से ब्रह्मविषयक शास्त्र का अलग प्रारम्भ होना ठीक ही है। यदि ब्रह्म उपासना विधि का अंग होता तो उसका समावेश धर्मजिज्ञासा में हो जाता; अथातो ब्रह्मजिज्ञासा द्वारा पृथक् शास्त्र का प्रारंभ न होता और होता भी तो अब अवशिष्ट धर्म जिज्ञासा का प्रारम्भ होता है इस रूप में होता जैसा कि कभी कभी मीमांसा में किया गया है। अर्थात् आत्मा ब्रह्म के एकत्व ज्ञान की प्रतिज्ञा पूर्वमीमांसा में नहीं है इसीलिये इस अपूर्वशास्त्र का प्रारम्भ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ठीक ही किया गया है। अतः सभी विधि और सभी अन्य प्रमाणों का अवसान अहं ब्रह्मास्मि ज्ञान ही है। जब इस हेयोपादेयरहित अद्वैत आत्मा का अनुभव हो जाता है तो सभी प्रमाण और प्रमाता निर्विषयक हो जाते हैं।

अपि चाहु :—

> "गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् ।
> सद्ब्रह्मात्माहमित्येवंबोधि कार्यं कथं भवेत् ।।
> अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः ।
> अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ।
> देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
> लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ।। इति ।

कहा है गौण एवं मिथ्या आत्माभिमान के असत् होने पर, पुत्र देहादि के बाध होजाने पर मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर कल्पितप्रमाण से ज्ञानप्राप्ति का प्रश्न कैसे उठ सकता है ? आत्मा ज्ञातारूप तब तक रहता है जबतक कि जिज्ञासितव्य आत्मा का ज्ञान नहीं रहता । जिज्ञासितव्य पापपुण्य आदि से मुक्त ज्ञाता (आत्मा) है । जिस प्रकार देहरूप आत्मा का ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है उसी प्रकार प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण भी तभी तक प्रमाण है, जबतक कि आत्मनिश्चय नहीं हो जाता ।

परिशिष्ट

रामानुजाचार्य द्वारा मायावाद का खंडन और उसका उत्तर

अद्वैत वेदान्त में सबसे अधिक कठिन प्रसंग मायावाद का है। इस प्रसंग में कई बातें कही जाती हैं। यह कहा जाता है कि मायावाद उपनिषदों में नहीं पाया जाता है। यह भी कहा जाता है कि मायावाद जीवन को निरर्थक बना देता है और अन्त में यह कहा जाता है कि मायावाद तर्कतः अनुपपन्न है। यह कहना कि मामावाद उपनिषदों में नहीं मिलता है एक दुस्साहस है। समस्त हिन्दू धार्मिक, पौराणिक साहित्य एवं संत संप्रदाय में मायावाद का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। यदि यह श्रुति सम्मत न होता तो उसे यह स्थान मिलना असंभव था। यह सभी मानते हैं कि मायावाद का प्रचार भारतवर्ष में जन साधारण तक में है ? यह प्रचार भारतवर्ष जैसे परम्परावादी देश में कैसे सम्भव हुआ ? वास्तव में हमारी आसक्ति जगत् में इतनी अधिक है कि मायावाद को बौद्धिक-दृष्टि से उपयुक्त मानते हुए भी हम हृदय से उसे ग्रहण नहीं कर पाते हैं, मानो हम उससे डरते हैं (अभयेभयदर्शिनः)

यह आक्षेप कि मायावाद जीवन को निरर्थक बना देता है और देश के पतन का कारण है सर्वथा निर्मूल है। अद्वैत वेदान्त कहाँ कहता है कि जगत् सबके लिये माया या मिथ्या है ? जगत् केवल ब्रह्मज्ञानी के लिए जो अपने शरीर को भी मिथ्या मानता है मिथ्या है न कि जन साधारण के लिए। दूसरी बात यह है कि वेदांत में व्यावहारिक सत्य की मान्यता है। इस व्यावहारिक सत्य के अन्तर्गत जीवन के वे सभी मूल्य जिनके लिये लोग परेशान रहते हैं आ जाते हैं। हाँ, वे मूल्य पारमार्थिक सत्य में स्थान नहीं पाते। तो क्या आलोचक का यह आग्रह तो नहीं है कि व्यावहारिक जीवन के मूल्यों को परमार्थ में भी स्थान मिलना चाहिए ? यदि यह आग्रह है तो स्पष्ट है कि उसे पारमार्थिक का अर्थ स्पष्ट नहीं है। जीवन के मूल्यों को जितना स्थान आप देना चाहते हैं उतना स्थान तो उनको व्यावहारिक जगत् में ही मिल जाता है। जब तक आपको जगत् सत्य प्रतीत होता है तब तक आपसे जीवन के मूल्यों को मिथ्या कहने का आग्रह कोई नहीं करता क्योंकि उससे तो बुद्धिभेद हो

जायगा। परन्तु जब जगत् दुःखयोनि रूप मालूम पड़ने लगे और उसके भोगों से विराग हो तब परमार्थ चिन्तन का प्रसंग आता है। जगत् का सत्यत्व और परमार्थ चिन्तन दोनों साथ-साथ नहीं चलते। अथवा जगत् को सत्य और मिथ्या एक ही काल में नहीं कहा जाता है। तब तक जगत् सत्य है तब तक ब्रह्म के सत्यत्व का प्रश्न ही नहीं है और जब ब्रह्म सत्य है तो जगत् मिथ्या है। मायावाद का खंडन वे ही लोग करते हैं जिनको कहीं न कहीं आसक्ति होती है—वह आसक्ति चाहे जगत् से हो चाहे ईश्वर के किसी रूप से हो। जो सर्वथा अनासक्त है उसका मायावाद से क्या विरोध हो सकता है? जो आसक्त है वह निष्पक्ष नहीं हो सकता और उसके मत का आदर नहीं किया जा सकता।

मायावाद को तर्कतः अनुपपन्न बताने का सबसे बड़ा प्रयास रामानुजाचार्य ने किया है। उनके सात प्रसिद्ध तर्कों पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जायेगा।

प्रथम—आश्रयानुपपत्ति—अविद्या का आश्रय क्या है? जीव स्वयं अविद्या के कारण है अतः जीव अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता है। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है अतः ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता है क्योंकि अविद्या और ज्ञान में विरोध है।

उत्तर—इस प्रसंग में सर्वप्रथम यह कहा जायेगा कि जीव और अविद्या दोनों अनादि हैं। अतः जीव भी अविद्या का आश्रय हो सकता है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय हो सकता है क्योंकि अविद्या का विरोध विद्या या प्रमा से है न कि प्रकाश या चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से। अर्थात् हमको प्रमाज्ञान और शुद्ध चैतन्य में भेद करना चाहिए।

द्वितीय—तिरोधानानुपपत्ति—अविद्या ब्रह्म के स्वरूप का तिरोधान नहीं कर सकती है क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश है। आखिर तिरोधान का अर्थ क्या है? क्या अविद्या ब्रह्म के प्रकाश का नाश कर देती है या उसकी अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करती है? ब्रह्म के प्रकाश का नाश होने से उसके स्वरूप का ही नाश हो जायगा। यदि यह कहें कि अविद्या प्रकाश की अभिव्यक्ति में बाधा डालती है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि इस तरह तो अंधकार रूप अविद्या प्रकाशरूप ब्रह्म से बलवत्तर सिद्ध हो जायगी। अतः किसी भी प्रकार तिरोधान संभव नहीं। एक बात और है। यदि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है तो वह अज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? अज्ञान का विषय वही होता है जो ज्ञान का होता है।

उत्तर—यहाँ यह स्मरणीय है कि तिरोधान वास्तविक नहीं मिथ्या है। दूसरी बात यह है कि अविद्या के कारण ब्रह्म के प्रकाश का तिरोधान नहीं होता है और न अस्तित्व का होता है। तिरोधान केवल आनंदांश या अनन्तता का होता है। अविद्या स्वयं मिथ्या है अतः उसके द्वारा तिरोधान भी मिथ्या ही है। तिरोधान सम्भव इसलिए है कि ब्रह्म प्रमाण नहीं है। अतः उसका विरोध अविद्या से नहीं है।

तृतीय—स्वरूपानुपपत्ति—अविद्या के विषय में प्रश्न उठता है कि यह सत् है या असत्? यदि सत् है तो ब्रह्म और अविद्या का द्वैत हो जायगा और यदि असत् है तो यह दोष किसमें है, द्रष्टा में या दृश्य में या दृशि में? द्रष्टा और दृशि में यह माना नहीं जाता है और न तो यह दृश्य हो सकता है। यदि तीनों में है तो एक और दोष मानना पड़ेगा जिससे इन तीनों में दोष उत्पन्न होता है। अतः यह कहीं भी नहीं हो सकता। और यदि ब्रह्म में मान लिया जाय तो वह नित्य हो जायगा और मुक्ति नहीं मिलेगी।

उत्तर—यह सत्य है कि अविद्या न तो द्रष्टा है और न दृशि है बल्कि एक प्रकार का दृश्य है जो साक्षी भास्य है। अविद्या अनादि है अतः इस दोष की उत्पत्ति के लिए अन्य किसी दोष की आवश्यकता नहीं और इसे ब्रह्म में भी मानने से कोई क्षति नहीं है क्योंकि अविद्या नामक दोष मिथ्या है। अतः यह कहना कि अविद्या स्वरूपतः कहीं हो ही नहीं सकती ठीक नहीं है।

चतुर्थ—अनिर्वचनीयानुपपत्ति—रामानुज का कहना है कि किसी वस्तु के विषय में दो ही प्रतीतियाँ होती हैं–या तो यह सत् है या असत्। अनिर्वचनीयता की कोई प्रतीति नहीं है जो न सत् है न असत् (सर्वाचप्रतीति सदसदाकारा)। अतः किसी वस्तु को अनिर्वचनीय कहना अनुपपन्न है।

उत्तर—यह सही है कि साधारण व्यवहार में केवल सत् असत् का ही प्रयोग होता है, अनिर्वचनीय या सदसद्विलक्षण का नहीं परन्तु दर्शन साधारण व्यवहार के प्रतीतियों का व्याख्यान मात्र नहीं है। दर्शन विचार है और जब हम रज्जुसर्प पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि सर्प को सत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि बाधित होता है और असत् भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि दिखाई पड़ता है। अतः इसे सत् और असत् से भिन्न मानना पड़ता है। अनिर्वचनीयत्व की प्राप्ति दार्शनिक विचार का परिणाम है–साधारण व्यवहार के प्रतीति का विषय नहीं है।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि यहाँ तर्क शास्त्र के मध्यम परिहार के नियम का उल्लंघन हुआ है क्योंकि तर्क का यह नियम किसी क्षेत्र विशेष में लागू होता है सर्वत्र नहीं। हम किस आधार पर यह कह सकेंगे कि प्रत्येक वस्तु को या तो सद् याअसद् होना होगा ? जीवन क्षेत्र में मध्यम परिहार के नियम को छोड़कर तीसरे विकल्प को मानना आवश्यक होता हैं। जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक व्यक्ति या तो स्त्री है या पुरुष क्योंकि तीसरा विकल्प भी सम्भव है।

पंचम—प्रमाणानुपपत्ति—रामानुज का कहना है कि अविद्या के लिये कोई प्रमाण नहीं है और इसे सिद्ध करना असम्भव है। भाव रूप अज्ञान के विषय में अनुमान दिये जाते हैं किन्तु वे दोषपूर्ण हैं। अज्ञान के ज्ञान के पहले उसका अज्ञान रहता है। अतः एक अज्ञान को आवृत्त करने वाला दूसरा अज्ञान चाहिये और दूसरे के लिए तीसरा—इस प्रकार अनवस्था दोष होता है। इसके अतिरिक्त स्वयं अज्ञान का आवरण अज्ञान से होने के कारण अज्ञान द्वारा ब्रह्म का आवरण नहीं हो सकता है। प्रकाश और अन्धकार की उपमा ठीक नहीं है क्योंकि वास्तव में वस्तुयें प्रकाश से नहीं ज्ञान से प्रकाशित होती हैं। और न तो यह कहना कि अविद्या श्रुति प्रतिपाद्य है ठीक है क्योंकि श्रुति का तात्पर्य दूसरा है। मुझे अज्ञान है इससे भी भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है। यह तो केवल ज्ञानाभाव मात्र है।

उत्तर—अद्वैती अज्ञान को नहीं सिद्ध करता है। वह केवल अज्ञान के भाव रूपत्व को सिद्ध करता है। अज्ञान तो सबको मान्य है। अनादि होने के कारण अनेक अज्ञान का मानना अनावश्यक है। अज्ञान तो अपरोक्ष रूप से साक्षी भास्य है। केवल उसके भाव रूपत्व के लिए तर्क दिया जाता है। साधारण ज्ञान से अज्ञान मात्र नहीं नष्ट हो जाता बल्कि वस्तु विशेषमात्र का अज्ञान जाता है। अज्ञान का ज्ञान किसी विषय के ज्ञान के समान नहीं होता। अतः यह कहना कि अज्ञान भी अज्ञान द्वारा आवृत्त है ठीक नहीं है। अज्ञान का ज्ञान तो सबको अपरोक्ष है किन्तु उसके भावत्व का ज्ञान अपरोक्ष नहीं है और उसके लिये अनुमान किया जाता है। अज्ञान कोई वस्तु नहीं है, वह भाव भी नहीं है बल्कि भावरूप है। अतः उसका ज्ञान किस प्रमाण से होता है यह प्रश्न ठीक नहीं है। बिना अज्ञान को स्वीकार किये दर्शन की या श्रुति की उपादेयता सिद्ध नहीं हो सकती है। प्रश्न यह नहीं है कि अज्ञान है या नहीं बल्कि अज्ञान का स्वरूप क्या है ? अद्वैतवादी कहता है कि अज्ञान ज्ञान का अभाव मात्र नहीं है क्योंकि अज्ञान के कारण अनर्थ होता हुआ दिखाई पड़ता है।

षष्ठम—निवर्त्तकानुपपत्ति—भावरूप अविद्या की निवृत्ति किसी प्रकार से नहीं हो सकती है। विशेषकर निर्गुण निराकरण ब्रह्म के सोऽहम् रूप ज्ञान से, क्योंकि श्रुति स्पष्ट है कि अनन्त शुभ गुणों के आश्रय ब्रह्म की उपासना से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। निर्विशिष्ट वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान सदा सगुण वस्तु का होता है।

उत्तर—यह सही है कि उपनिषदों में सगुण ब्रह्म का भी वर्णन है और उसकी उपासना का भी। परन्तु भेद के मिथ्या होने के कारण निषेधात्मक श्रुतियाँ बलवत्तर हो जाती हैं और निर्गुण ब्रह्म ही परम सत्य सिद्ध होता है। इसी से सभी श्रुतियाँ अज्ञान से बन्धन और ज्ञान से मुक्ति का प्रतिपादन करती हैं। यह कहना कि निर्गुण निराकार का ज्ञान नहीं हो सकता ठीक नहीं है। निर्गुण ब्रह्म स्वयं ज्योति है; उसे ज्ञाता की आवश्यकता नहीं है, केवल बाधक अज्ञान के निवारण से वह प्रकाशित हो जाता है।

सप्तम—निवृत्त्युनुपपत्ति—बंधन मिथ्या है तो निवर्तक ज्ञान भी तो मिथ्या है। अत: मिथ्या से मिथ्या की निवृत्ति कैसे होगी ? निवर्तक ज्ञान का भी निवर्तक होना चाहिये और इस तरह अनवस्था होगी। भावरूप अविद्या का नाश ज्ञान से नहीं हो सकता है। अत: बंधन कर्म से मानना ठीक है, वह ईश्वर की कृपा से जाता है।

उत्तर—स्वप्न की भूख और स्वप्न का भोजन दोनों मिथ्या होते हैं फिरभी स्वप्न की भूख स्वप्न के भोजन से ही जा सकती है जाग्रत के भोजन से नहीं। उसी प्रकार मिथ्या बंधन मिथ्यानिवर्तक ज्ञान से नष्ट हो सकता है। मिथ्यात्व के निवृत्त हो जाने पर निवर्तक ज्ञान भी अग्नि के समान अपने आप शान्त हो जाता है। अविद्या का नाश ज्ञान द्वारा ही होता है। यह जगत् प्रसिद्ध है। यदि बंधन कर्म से भी माना जाय तो गीता और उपनिषदों में स्पष्ट कहा गया है कि कर्मों का नाश ज्ञान से हो जाता है। कर्म अज्ञान के कारण होते हैं और अज्ञान का नाश ज्ञान से होता है। अत: अज्ञान को ही बंधन का अंतिम कारण मानना चाहिए।